भारतीय विचारधारा में आशावाद

मूल लेखक

मोहम्मद हफ़ीज़ सैयद एम्० ए० (बाम्बे)

पी-एच्० डी० (लंदन), डी० लिट् (मोपेइये फ्रांस)

अनुवादक

छंगालाल मालवीय एम्० ए०

प्रकाशक

नवलकिशोर प्रेस बुकडिपो

लखनऊ

प्रथमावृत्ति] [मूल्य १॥)

भारतीय विचार-धारा में आशावाद्

प्राक्कथन

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक मेरे एक थीसिस का हिन्दी रूपान्तर है । भारतीय विचारधारा के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण मैंने रक्खा है वह नितान्त मौलिक है। अपने देश की विचारधारा के सम्बन्ध में प्रायः यह धारणा है कि वह निराशावाद-मूलक है । मैंने अनेक प्रमाण तथा तर्क देकर यह सिद्ध किया है कि उसके मूल में आशावाद है, निराशावाद नहीं। इस भ्रमात्मक सिद्धान्त का फल शताब्दियों से देश के जीवन पर पड़ा है। सत्य सिद्धान्त की स्थापना से भारतीय जनता के जीवन-सम्बन्धी आदर्शों तथा व्यवहार में प्र ल परिवर्त्तन होने की संभावना है। अतः प्रस्तुत विषय सम्बन्धी खोज व्यावहारिक महत्त्व रखती है।

अंग्रेज़ी थीसिस का हिन्दी रूपान्तर श्रीछुंगालाल मालवीय एम्० ए०, हिन्दी लेक्चरर कान्यकुब्ज इन्टर मीजिएट कालेज, लखनऊ ने अपना अमूल्य समय देकर तैयार किया था । इसको दुहराकर प्रेस के लिए अंतिम रूप देने तथा प्रूफ़ आदि देखने का कार्य, डा० श्रीकृष्णलाल एम्० ए०, डी० फिल्० हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी ने किया है। लेखक इन दोनों सज्जनों का अत्यन्त आभारी है। पुस्तक का विषय दार्शनिक और दुरूह है। पारिभाषिक शब्दों का अनुवाद करना सरल कार्य नहीं है। अतः पाठकों को यदि कुछ स्थल जटिल मालूम हों तो उसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर समझें।

मुझे आशा है कि हिन्दी के विद्वान् और दार्शनिक मेरे दृष्टिकोण को सहानुभूति के साथ समझने का कष्ट उठावेंगे तथा इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने की कृपा करेंगे।

चैथम लाइन्स
प्रयाग

मो० हफ़ीज सैयद

प्राक्कथन

हिन्दू दर्शन शास्त्रों और आदर्शों पर कभी-कभी यह आक्षेप किया जाता है कि वे निराशावाद के प्रतीक हैं। वे मनुष्य को ऊपर उठाने की अपेक्षा नीचे गिरानेवाले हैं। उनका अनुसरण करने से भारतीय अकर्मण्य और आलसी बन जाते हैं। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस किया है कि भारतवर्ष के राजनीतिक पतन का कारण वहाँ की विचार-धारा तथा उसका अनुसरण है। हर्ष का विषय है कि हमारे मित्र डाक्टर मोहम्मद हफ़ीज सैय्यद ने इस पुस्तक में अनेक ग्रन्थों से प्रमाण देते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि पाश्चात्य विद्वानों का उपर्युक्त निर्णय भ्रांतिपूर्ण है और हिन्दू विचार-धारा आशावाद से युक्त है, जिसको अंगीकृत करके भारतीय कर्मण्य और साहसी बनते हैं। यह स्पष्ट है कि इस समय भारतवासियों की दशा दयनीय है, पर यह उनकी विचार-धारा अथवा प्राचीन महर्षियों के सिद्धान्तों का दोष नहीं है। हाँ, एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि उनकी उपेक्षा से ही इनकी यह दुर्दशा हुई है। जब तक भारतवासी अपने दार्शनिक आदर्शों का पालन करते रहे, वे स्वतंत्र और समृद्ध रहे। हमारे देश का प्राचीन इतिहास इसका साक्षी है। राम-राज्य में देश सुखी और सम्पन्न था; कृष्ण के समय में गोरस की नदियाँ बहती थीं। ऐतिहासिक काल में भी अशोक, समुद्रगुप्त और हर्ष आदि वैभव में किससे कम थे! स्कंदगुप्त के पराक्रम से विदेशी तक काँपते रहते थे। वे भी तो भारतीय विचार-धारा में उत्पन्न और पुष्ट हुए थे। कौन कह सकता है कि वे अकर्मण्य और आलसी थे! हाँ, जब से भारतवासी अपने दार्शनिक तत्त्वों को एक कल्पना की वस्तु समझकर उनसे उदासीन रहने लगे तभी से उनका पतन होने लगा और निरन्तर होता जा रहा है।

डा० मोहम्मद हफ़ीज सैय्यद ने प्रस्तुत ग्रन्थ में दिखलाया है कि हिन्दुओं की विचार-धारा असीम और अगाध है—इसको हृदयंगम

करने के लिए गहरी पैठ की ज़रूरत है। ऊपर ही ऊपर तैरनेवाले तैराक इसकी गहराई का पता नहीं पा सकते। डा० साहब के अनुसार इस विचार-धारा के अंतर्गत वैदिक धर्म, षट्‌दर्शन तथा बौद्ध और जैन मत—सभी स्रोत—सम्मिलित हैं और इन सभी स्रोतों में आशावाद की लहर मिलती है। उन्होंने उपर्युक्त सभी स्रोतों का वैज्ञानिक विश्लेषण करके भली भाँति दिखला दिया है कि उनका कथन कितना प्रमाणयुक्त है।

डा० साहब के ग्रन्थ का आरम्भ हिन्दू धर्म की विवेचना से होता है। उन्होंने दिखलाया है कि अनेक मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों के होते हुए भी भारतीय विचार-धारा में ब्रह्म की कल्पना सर्वत्र व्यापक है और सब जगह वह सत्य, सुन्दर और शिव माना गया है। जीव इसका एक पूर्ण अंश है जो अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ इसी पद तक पहुँचने की चेष्टा करता है। यहीं उसको ब्रह्म की एकता, शांति की सच्ची अनुभूति और जीवन की परम सिद्धि प्राप्त होती है। पर प्रश्न यह उठता है कि जीव इस परम पद की प्राप्ति कैसे करता है? डा० साहब ने अत्यन्त सुन्दर रीति से शास्त्रों से प्रमाण देते हुए दिखलाया है कि 'कर्म करने से' वह यह पद प्राप्त करता है। बार-बार जन्म लेकर विभिन्न योनियों में भ्रमण करता हुआ जीव कर्मानुसार उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होता है। अतः जो व्यक्ति कर्मशील नहीं है वह अपने ध्येय को कैसे प्राप्त कर सकता है! भारतीय विचार-धारा में ब्रह्म की कल्पना, पुनर्जन्म का सिद्धान्त और जीव को एक आन्तरिक प्रेरणा या इच्छा शक्ति से युक्त मानना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दू—एक सच्चा हिन्दू—अकर्मण्य हो ही नहीं सकता। कर्मशीलता तो उसका सहज गुण होना चाहिए।

इसी प्रकार दुःख या नैराश्य उसके जीवन से परे है। मृत्यु उसकी दृष्टि में एक परिवर्तनमात्र है, जिसके द्वारा वह यह समझता है कि अब कर्मानुसार एक दूसरी स्थिति आवेगी जहाँ विकास का सुयोग होगा और इसी प्रकार उन्नति करता हुआ वह परम पद तक पहुँच जायगा। जन्म को वह ईश्वर की देन समझता है जिसमें उसे अपने संस्कारों को

परिष्कृत करने का सुअवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार जन्म और मृत्यु दोनों ही उसके लिए समान रूप से आनन्दमय हैं।

पुनर्जन्म का सिद्धांत जैसे पुकार-पुकारकर कह रहा है "निराश मत हो, कर्म करते चलो; इच्छा यदि इस जन्म में पूरी नहीं हुई तो अगले जन्म में होगी, उसमें भी न होगी तो और आगे चलकर होगी।" ऐसे आशाजनक सिद्धान्त का अनुयायी क्या निराशावादी हो सकता है ? उसे तो मृत्यु में भी आशा की झलक देख पड़ती है। नैराश्य तो वहाँ होगा जहाँ एक ही जन्म में अथ और इति दोनों हैं, जैसे मुसलमान और ईसाई धर्मों में। हिन्दुओं के यहाँ जीव की निरंतर गति है और वह सतत क्रियाशील है। इस बात के लिए हम डा० साहब की सराहना करते हैं कि उन्होंने साम्प्रदायिकता से परे हो एक विद्वान् की भाँति हिन्दू धर्म को समझने की चेष्टा की है और उसके तत्त्व तक पहुँचने में वे बहुत कुछ सफल रहे हैं।

ऊपर मैंने डा० साहब के विचारों का दिग्दर्शनमात्र कराया है, पर पाठकों से मेरा अनुरोध है कि ग्रन्थ को पूर्ण रूप से पढ़ें और देखें कि हिन्दू धर्म के विभिन्न स्रोतों में क्या-क्या रहस्य छिपा है। प्रस्तुत ग्रंथ में आश्रम-चतुष्टय, जाति-व्यवस्था और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति पर लिखे गये परिच्छेद विशेष रूप से पठनीय हैं। इनमें डा० साहब की विचार-गंभीरता, मौलिकता और सूक्ष्म-दर्शिता सराहनीय हैं। जाति-व्यवस्था को कर्मज मानते हुए उन्होंने बड़ी ही मार्मिक युक्तियाँ उपस्थित की हैं। इसी प्रकार बौद्ध-धर्म में डाक्टर साहब ने जो नवजीवन का संदेश पाया है वह भी ध्यान देने योग्य है। बहुधा लोगों की धारणा है कि इसके अनुसरण से ही भारत का राजनीतिक पतन हुआ। बौद्धों की 'अहिंसा' पर अनेक आक्षेप किये जाते हैं, यहाँ तक कि अहिंसा की हिंसा हो जाती है। पहले तो मैं स्वयं इस धारणा को भ्रममूलक समझता हूँ और जिन लोगों ने बौद्ध धर्म का भली भाँति अध्ययन किया है वे जानते होंगे कि गौतम बुद्ध ने स्वयं कहा है—

"दण्डनीय को दण्ड अवश्य मिलना चाहिए और जो कृपा-पात्र हैं उन पर कृपा होनी चाहिए।"

परन्तु इस कथन में भी एक विशेषता है। लोग प्रायः समझते हैं कि दण्ड देनेवाला दण्ड दे रहा है, पर गौतम कहते हैं—

'दंड देने वाला दंड नहीं देता, दंडनीय का अपराध, उसका कर्म उसको दंड दे रहा है। दंड देनेवाला तो निमित्तमात्र है।'

गौतम अहिंसा के समर्थक थे, पर अन्याय की उपेक्षा नहीं करते थे। एक दूसरी जगह उन्होंने कहा है—

"संघर्ष अवश्यम्भावी है, क्योंकि जीवन ही संघर्ष है। ऐसी स्थिति में गौतम की अहिंसा को भारत के राजनीतिक पतन का कारण समझना उचित नहीं है।

डा० साहब ने अपने ग्रन्थ में दिखला दिया है कि किस प्रकार बौद्ध तथा जैन धर्म विकासोन्मुख और सुखमय हैं। गौतम की अवतारणा ही विपत्ति के संहार के लिए हुई थी।

मैं समझता हूँ, इस पुस्तक को पढ़कर अनेक पाठकों का हिन्दू-धर्म-सम्बन्धी भ्रम दूर हो जायगा। उनको हिन्दू धर्म का वास्तविक रहस्य मालूम हो जायगा और वे धर्म को एक नये दृष्टिकोण से देखने लगेंगे। हम अपने मित्र डा० मोहम्मद हफ़ीज सैयद को इस कृति के लिए हृदय से बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि हिन्दीप्रेमी उनके परिश्रम से लाभ उठावेंगे।

इस वक्तव्य को समाप्त करने के पहले यहाँ पर इतना लिख देना आवश्यक है कि इस ग्रन्थ के अनुवादक पं० छंगालाल जी मालवीय ने भी अपना काम अत्यंत योग्यतापूर्वक सुचारु रूप से किया है, जिससे यह पुस्तक एक स्वतंत्र ग्रन्थ सी प्रतीत होती है। इसके लिए मैं मालवीय जी को हार्दिक बधाई देता हूँ।

मिश्र-भवन, गोलागंज,   विनीत,
लखनऊ, ५/४/१९४५   **श्यामबिहारी मिश्र**

भारतीय विचार-धारा में आशावाद

---*---

पहला अध्याय

आक्षेप

सुविधा और विचार-संगति की दृष्टि से किसी विषय को प्रारंभ करने के पूर्व उसके विशिष्ट शब्दों की व्याख्या कर लेना सदैव आवश्यक होता है। थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ 'आशा-वाद' के अनेक अर्थ हैं। लाइबनीज़ के अनुसार यह एक सिद्धांत है जो उन सभी लोकों की अपेक्षा—जिनकी कल्पना की जा सकती है—इस प्रत्यक्ष लोक को श्रेष्ठतम मानता है। इस मत के अनुसार विश्व में सत् की असत् पर सदैव विजय होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह मन की एक प्रवृत्ति है जो प्रत्येक वस्तु में मंगल की कल्पना करती है और प्रत्यक्ष असफलता में भी, जहाँ निराशा का नाम भी नहीं रहता, आशावादी के हृदय में आशा और प्रसन्नता का निवास रहता है और उसकी आत्मा को पूर्ण विश्वास होता है कि अंत में न्याय और सत्य की ही विजय होगी। भय नहीं, आशा ही उसका पथ-प्रदर्शन करती है।

भारतीय विचार-धारा से अभिप्राय प्राचीन वैदिक धर्म के धार्मिक और दार्शनिक विचार-समूहों, उसके षट्-दर्शन-सिद्धांतों, बौद्ध और जैन धर्म के दार्शनिक विचारों और धार्मिक अनु-शासनों से है।

एक विचारशील व्यक्ति, जो अनेकता में भी एकता देखता है और ऊपरी भेद-भावों की अपेक्षा एक मूल सिद्धांत की ओर विशेष ध्यान देता है, समझता है कि अत्यंत विचारवान् और आत्मज्ञानी महात्माओं द्वारा प्रतिपादित ऊपर कही हुई तीन प्रमुख विचार-धाराओं का लक्ष्य एक ही है और वे जीवन-संबंधी दृष्टिकोण तथा उनकी समस्याओं के विषय में बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। आत्मा का अस्तित्व उसका अनेक योनियों में भ्रमण करके विकास की ओर अग्रसर होना, आत्मा का विश्वात्मा से सायुज्य प्राप्त करने पर इस विकास का पूर्ण होना और अंत में एक अचिन्त्य शांति और श्रेय का जीवन प्राप्त करना इत्यादि विचार-धाराएँ, जिनका उपनिषदों में प्रतिपादन हुआ है, न्यूनाधिक मात्रा में उन सभी धर्मों में मिलती हैं जिनका भारत में जन्म हुआ।

जब से भारतवर्ष का इङ्गलैंड से संपर्क हुआ है, तब से पाश्चात्य विद्वानों ने पूर्वीय विचारों और संस्कृति के अध्ययन की ओर कुछ रुचि दिखलाई है। परंतु यह देखकर दुःख होता है कि अध्ययनशील होते हुए भी उनमें से कई एक विद्वान् भारतीय विचार-धारा के मूल भाव को ठीक-ठीक नहीं समझ पाये हैं। प्रत्येक जाति की अपनी स्वतंत्र प्रतिभा होती है और उसके जीवन-आदर्श एक विजातीय की समझ में तब तक नहीं आ सकते जब तक वह पक्षपातरहित होकर शुद्ध हृदय से उनका अध्ययन न करे। भारतीय विचार-धारा पर अनेक आक्षेप किये जाते हैं निराशावादिता उनमें से एक है। कहा जाता है कि भारतीय दर्शन और धर्म में उनके अनुयायियों के लिए उज्ज्वल भविष्य का संकेत है ही नहीं, वरन् उनके लिए जीवन अंत में अंधकारपूर्ण और दुःखमय है। उन्हें अपने धर्म और विश्वास से एक उपयोगी और

निःस्वार्थ सेवा का जीवन बिताने की प्रेरणा ही नहीं मिलती। इससे बढ़कर असत्य और हो ही क्या सकता है?

दो आक्षेप

आक्षेप तो कई लेखकों ने किये हैं किन्तु यहाँ हम केवल दो का उल्लेख करते हैं, जिन्होंने भारतीय विचार-धारा पर 'निराशावादिता' का लांछन लगाया है और जो उस वास्तविक आशावादी प्रवृत्ति के समझने में असमर्थ रहे हैं, जो हिन्दू, बौद्ध और जैन मतों के मूल सिद्धांतों में परिव्याप्त है।

आक्षेपों को निराधार सिद्ध करने के पूर्व हम उन्हें (आक्षेपों को) आक्षेपकों के ही शब्दों में उपस्थित करते हैं। प्रोफ़ेसर जेम्स सली अपनी पुस्तक 'पेसेमिज़्म' के पृष्ठ ३७-३८ पर लिखते हैं—

"यदि सेमिटिक जाति के धर्मशास्त्रों में एक स्वतः-सिद्ध और सीमित आशावाद का आधार मिलता है, तो भारतीय आर्यों के दार्शनिक धर्म के विचारों और आदर्शों में हमें निराशावाद का एक अद्भुत और उल्लेखनीय आधार मिलता है। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर का कथन है कि 'जीवन एक स्वप्न अथवा भार है' की धारणा केवल बुद्ध की नहीं है, बरन् इसे प्रत्येक हिन्दू दार्शनिक मानता है। बौद्ध मत की भाँति मूल ब्राह्मण-धर्म का आरंभ ही इस धारणा से होता है कि मानव-जीवन दुःखमय है। किन्तु इस दुःख से बचने के उपाय दोनों मतों के अनुसार बहुत भिन्न हैं। ब्राह्मण-दर्शन के विचार से यद्यपि यह स्पष्ट संसार एक दुःखद अस्वाभाविक गुण पर आश्रित है तथापि इसका प्रभाव मिटाया जा सकता है, और यह आत्मा के उस विश्वात्मा अथवा ब्रह्म के साथ मिल जाने पर संभव है जो सत्, चित् और आनंद तीनों का

उद्गम है। यही एक उपाय है जिससे नित्य और संतुष्ट अस्तित्व की प्राप्ति हो सकती है और जो इस दृश्य जगत् में निराशा के स्थान पर आशावाद की स्थापना करता है।

1. "If in the theology of the Semitic race we have an *apriori* basis for a limited optimism, in the metaphysico-religious ideas of the Aryans of India we find a remarkable ground work for pessimism. 'The sense that life is a dream or a burden', says Professor Max Muller, 'is a notion which the Buddha shares with every Hindu philosopher.' In orthodox Brahamanism, as in Buddhism a keen sense of human misery forms the starting point. Yet the solution of the dark mystery is widely different in the two cases. According to the Brahamanical Philosophy, though the created world is a regrettable accident, its effects can be neutralised. And this is effected by the absorption of the human soul in the Universal Spirit or Brahma, the true source of being, thought and happiness. Thus a mode of a permanent and satisfying existence is secured, and optimistic Weltanschaung finally substituted for a pessimistic.

In Buddhism on the contrary as Mr. Max Muller has well pointed out, the pessimistic view of life receives no such happy solution; and this philosophy is to be regarded as pessimism pure

and simple, and as the direct progenitor of the modern German Systems. Buddha (or his followers) denies the existence not only of a creator but of an Absolute Being. There is no reality anywhere, neither in the past nor in the future.

True wisdom consists in a perception of the nothingness of all things and in a desire to become nothing, to be blown out to enter 'Nirvan,' that is to say, extinction The perfect attainment of this condition would be reached only at death. Yet even during life a partial anticipation of it might be secured, namely, in a condition of mind freed from all desire and feeling.'

अर्थात् "इसके विरुद्ध बौद्ध मत में, जैसा कि मैक्समूलर ने सत्य ही कहा है, नैराश्य से वचने का कोई अच्छा ढंग नहीं बताया गया है। उसे हम शुद्ध और सहज नैराश्यवाद से पूर्ण कह सकते हैं, और वही आधुनिक जर्मन प्रणालियों का जन्म-दाता है। बुद्ध (अथवा उनके अनुयायी) न केवल सृष्टिकर्त्ता का ही अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, वरन् वे ब्रह्म की सत्ता को भी नहीं मानते। उनके अनुसार सत्य का कहीं अस्तित्व ही नहीं है, वह न कभी रहा होगा।

'प्रत्येक वस्तु के अनस्तित्व का जान लेना, अनस्तित्व में मिल जाने की इच्छा करना और निर्वाण प्राप्त करने के लिए अपने को मिटा देना यही सच्चा ज्ञान है'—इसकी पूर्ण प्राप्ति केवल मृत्यु होने पर ही हो सकती है। हाँ, जीवन में भी कुछ अंश तक इसका पूर्वानुभव किया जा सकता है, जब कि मन

उस अवस्था को प्राप्त कर ले जिसमें वह समस्त वासनाओं और भावों से निर्लिप्त रह सके।"

डाक्टर एलबर्ट स्क्वीटज़र अपनी पुस्तक "क्रिश्चिऐनिटी एन्ड दी रिलीजन्स आव दि वर्ल्ड" के पृष्ठ ३५ से ४१ और पृष्ठ ४६ से ५३ में लिखते हैं—

"जब हम उच्च धर्मों के मूल आदर्शों की मीमांसा करने बैठते हैं तब हमें तीन विशिष्ट सिद्धांत दिखाई पड़ते हैं जो उनमें से प्रत्येक धर्म की मूल प्रकृति का निर्धारण करते हैं। पहली विशिष्टता आशावाद और निराशावाद की है; दूसरी अद्वैत और द्वैत की और तीसरी नैतिक विचारों का न्यूनाधिक मात्रा में उपस्थिति की है।

कोई धर्म आशावादी तब कहलाता है जब वह दृढ़तापूर्वक सिद्ध कर दे कि प्रकृति के अंदर काम करनेवाली समस्त प्रेरक शक्तियों का कारण एक आदि और अशेष शक्ति है जो सभी वस्तुओं को सहज रूप से विकसित कर पूर्णता की ओर ले जाती है।

इसी प्रकार वह धार्मिक प्रकृति नैराश्यपूर्ण मानी जाती है जो यह सोच भी नहीं सकती कि संसार की प्रेरक शक्तियाँ दिव्य सौन्दर्य और पूर्णता की सूचक हैं। इसलिए इस भौतिक जगत् में विकास की संभावना पर वह भरोसा नहीं रखता, वरन् एक अतीन्द्रिय शुद्ध और पवित्र देवलोक की कल्पना करता है।

जिन भेदों पर यहाँ तक कुछ विचार किया गया है उनका संबंध अधिकांश दार्शनिक विचारों से है जिन पर एक धर्म की स्थापना हो सकती है, किन्तु उसकी आंतरिक प्रवृत्ति का निरूपण तो नैतिक तत्त्वों के आधार पर होता है। अस्तु, प्रत्येक धर्म के संबंध में एक महान् प्रश्न यह उठता है कि

किसी व्यक्ति को आंतरिक दृष्टि से पूर्ण समुन्नत एवं सदाचारी बनाने के लिए उसमें स्थायी और प्रबल उत्तेजना-शक्ति किस मात्रा में मिलती है।

ब्राह्मण-धर्म की शिक्षा इस प्रकार है कि यह संसार, जैसा कि हम इसे अपने चारों ओर देखते और अनुभव करते हैं, कुछ नहीं है वरन् उस निर्विकार सत् की अपूर्ण झलक मात्र है जिसका सार तत्त्व ब्रह्म अथवा विश्वात्मा है। इसी सर्वव्यापी, शुद्धातिशुद्ध सत् से सब चराचर भूतों की उत्पत्ति हुई है। एक वैदिक मंत्र का अर्थ है कि गोशाला में गऊ के समान देवता भी उसी सत् में निवास करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण-धर्म एक अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी बहुदेववाद के अस्तित्व को स्वीकार कर सकता है। वह देवताओं को सृष्टि में उच्चतम प्राणी के रूप में स्वीकार करता है।

इस दुःखमय अपूर्ण जगत में मनुष्य ज्ञान और ज्ञान से उत्पन्न कर्मों का अनुसरण करके ही मुक्त हो सकता है। वह बार बार अपने को समझाता है कि जो कुछ उसकी दृष्टि में आता है, जो कुछ उसके चारों ओर हो रहा है, वह कुछ भी नहीं, केवल एक अस्तव्यस्त नाटक है, जिससे न तो किसी लाभ की आशा की जा सकती है और न जिसमें उसे कोई भाग ही लेना है। अतः ऐन्द्रिय संसार से विरक्त होकर शुद्ध सत् लोक में प्रविष्ट होना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। जीवन से आबद्ध रहने और संसार से कोई रुचि-संबंध रखने की उसे कोई आवश्यकता ही नहीं—वह तो ममता और मोह से परे उस अवस्था को पहुँचना चाहता है जहाँ समस्त कर्म अंततः विलीन हो जाते हैं। उसे न किसी प्रकार की कामना होती है और न वह संसार से कोई आशा ही रखता

है। संसार से, अपने इस जीवन से निर्लिप्त हो जाना—मर जाना—ही उसका आध्यात्मिक व्यवसाय है। शुद्ध और शाश्वत ब्रह्म में क्रमशः अधिक से अधिक विलीन होकर वह अपने जीवन के वास्तविक ध्येय पर पहुँचता है।

संन्यास और तप द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाना—ये दोनों जीवित रहने की अभिलाषा को नष्ट करने के साधन हैं। एक विशेष अवस्था प्राप्त करने पर ब्राह्मण संन्यासी होकर वनों में चले जाया करते थे और संसार के लिए मृत होने की क्रिया को पूर्ण करने के लिए जान-बूझकर अपने अस्तित्व का अंत कर देते थे; और बौद्ध लोग यही जानकर संतोष कर लेते हैं कि जीवन और मृत्यु के चक्र में केवल दुःख ही दुःख है; अतः इस चक्र से छुटकारा पाना और वासनारहित अवस्था—निर्वाण—को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

दोनों सिद्धांतों की मूल प्रकृति में नितांत भेद है। ब्राह्मण ग्रंथ और बुद्ध देव मानवों से कहते हैं कि तुम्हें एक जीवन्मृत व्यक्ति की भाँति, जिसमें प्राकृतिक विश्व में कोई वासना शेष नहीं है, एक शुद्ध आध्यात्मिक लोक में निवास करना चाहिए। ईसा के उपदेश उन्हें बतलाते हैं कि तुम संसार तथा अपने अहंकार से मुक्त रहो जिससे इस संसार में ईश्वरीय उद्देश्य की पूर्ति में साधन बनकर कार्य कर सको।

दैव के संबंध में भारतीय धारणा है कि यह शुद्ध आध्यात्मिक तत्त्व है। यह एक महासागर है जिसमें तैरते-तैरते थककर मनुष्य मग्न हो जाना चाहता है। ईसा के उपदेशों में ईश्वर सजीव नैतिक संकल्प है जो हमारे संकल्प को एक नये मार्ग पर ले जाना चाहता है। वह मुझसे कहता है 'साहसपूर्वक हाथ चलाते चलो। यह मत पूछो कि इस अनंत

महासागर में तुम्हारी चेष्टाएँ तुम्हें कहाँ ले जाएँगी। यह मेरी इच्छा है कि तुम तैरते चलो।'

यहाँ हमको मूल भेद का पता चल जाता है। ब्राह्मण और बौद्ध धर्म वास्तव में केवल मौखिक नैतिकता तक ही रह जाते हैं, कार्मिक नैतिकता तक उनकी पहुँच नहीं है। भारतीय विचार-धारा के इन अंतिम परिणामों को संसार के सामने खोलकर रखना आवश्यक है। विश्व के संबंध में विशुद्ध तर्क से प्रारंभ कर भारतीय धर्म उच्चतर श्रेणी के प्रेम-धर्म होने का दावा करते हैं, परंतु हम इसे सहन नहीं कर सकते। एक ओर ब्राह्मण और बौद्ध धर्म आध्यात्मिक भूमि पर खड़े हैं और दूसरी ओर ईसाई धर्म नैतिक भूमि पर और इनका विरोध अध्यात्म और नीति का विरोध है। तर्क-वितर्क में भारतवासी बारम्बार यही कहते हैं कि आध्यात्मिकता नैतिकता नहीं है, अर्थात् ईश्वर में लीन होने से जिस आध्यात्मिकता की प्राप्ति होती है वह एक भिन्न वस्तु है और अंत में ईश्वरत्व तक पहुँचने के कारण, समस्त नैतिकता से बढ़कर है। दूसरी ओर हम ईसाई लोग कहते हैं कि आध्यात्मिकता और नैतिकता एक एवं अभिन्न हैं; पूर्ण रूप से नैतिकता प्राप्त कर लेने पर ही चरम आध्यात्मिकता की प्राप्ति होती है; पूर्ण रूप से नैतिकता प्राप्त कर लेने पर ही इस आध्यात्मिकता का निरंतर प्रकाश फैलता है।

अंततोगत्वा, ब्राह्मण और बौद्ध धर्म इस प्रकार के धर्म हैं जिनमें आंतरिक ऐक्य है, जो संसार तथा जीवन-संबंधी सुसंगत विचारावली के परिणाम हैं और इसीलिए इनकी छाप जम जाती है। वे हमारे सम्मुख संसार और जीवन का एक ऐसा चित्र उपस्थित करते हैं जो तर्कपूर्ण है, अद्वैतवादी है और है निराशावादी। परंतु यह धर्म की दरिद्रता है;

इनका ईश्वर केवल थोथी आध्यात्मिकता है; संसार और जीवन को पूर्ण रूप से अस्वीकार करना ही इनकी अंतिम शिक्षा है; नैतिक-तत्व का इनमें बहुत अभाव है; यह एक रहस्यवाद है जो मनुष्य को अपना स्वतंत्र अस्तित्व एक मृत और निर्जीव ईश्वर में लीन कर मिटा देने की शिक्षा देता है। संसार और जीवन को अस्वीकार करना धर्म नहीं है, वह इससे कहीं बढ़कर है।"

हमारा दृष्टिकोण कितना आशावादी है और कितना निराशावादी—इसको समझने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जीवन है क्या वस्तु? अतः भारतीय विचार-धारा के कुछ मूल सिद्धान्त नीचे दिये जाते हैं।

भारतीय विचार-धारा के कुछ मूल सिद्धांत

प्राचीन भारतवर्ष का विज्ञान वेद की छः शाखाओं में अंतर्निहित है। उसका दर्शन छः उपांगों में पाया जाता है। इन सबका लक्ष्य है केवल यह एक विज्ञान, एक बुद्धि उत्पन्न करना कि एक आत्मा ही सत्य है और अन्य सब असत्य। ऋषियों ने सब प्रकार के ज्ञान की एकता स्वीकार करते हुए विज्ञान, दर्शन और धर्म में कोई भेद नहीं माना। सब का एक समान आधार वेद है। विज्ञान वेदांग हैं, दर्शन वेदोपांग हैं और इन सब का अंत है वेदांत। इन सबके संग्रह का नाम है अपरा विद्या—अर्थात् एक अखंड परम सत् का ज्ञान। प्रकाशमान वेद भी प्रकट होने के कारण अपरा विद्या के अंतर्गत माने जाते हैं और आत्मा को जिससे स्वरूप-ज्ञान हो उसे परा विद्या कहते हैं। मुंडकोपनिषद् में लिखा है—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इतिहस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ॥ अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते (मुण्डकोपनिषद् १,१, ४, ५)

अर्थात्-ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि दो विद्याएँ हैं—परा और अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद शिक्षा, कल्प (संस्कार विधि) व्याकरण, निरुक्त (शब्दशास्त्र) छन्द और ज्योतिष— ये अपरा हैं और जिससे शाश्वत की प्राप्ति हो वह परा है।

छः दर्शनों को भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि वे एक दूसरे के विरोधी न मानकर परस्पर एक दूसरे के साथ देखे जायँ, क्योंकि वे सब मिलकर दार्शनिक सत्य का अनुभव कराने के लिए एक महान् आयोजन-स्वरूप हैं। उनकी समता की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है—

न्यायः	वैशेषिकम्
सांख्यम्	योगः
मीमांसा	वेदान्तः

मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान भेद' में छः दर्शनों का सारांश देने के बाद उनकी एकता पर ज़ोर दिया गया है। सच तो यह है कि वे सब मुनि, जिन्होंने इन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया एक अद्वितीय ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने में एकमत थे। उनसे भूल होने की सम्भावना नहीं है; क्योंकि वे सर्वज्ञाता थे और उन्होंने इन विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन इसलिए किया जिससे नास्तिकता का प्रचार न हो सके और कहीं सांसारिक विषयों की ओर सहज रुचि रखनेवाला मनुष्य अपने जीवन के परमोद्देश्य को भूल न जाय। श्रुति का वचन है कि 'गाएँ कई रंग की होती हैं किन्तु उन सब के दूध का रंग केवल एक होता है। विद्या को दूध की भाँति और गुरु को गौओं के समान जानो।'

प्रत्येक दर्शन में एक ऋषि होता है जो गुरु की भाँति उसके सिद्धान्तों को सूक्तियों, सूत्रों, भाष्य और टीका के रूप में उपस्थित करता है जो प्रमाणित मानी जाती हैं। दर्शनों का आधार इन्हीं सूत्रों और व्याख्याओं पर स्थिर है। सबका ध्येय एक ही है—मनुष्यों को दुःखों से बचाना; साधन भी एक ही है—अज्ञान रूपी बन्धन को दूर करना और फलतः परमात्मा से सायुज्य प्राप्त करना। इस प्रकार न्याय अज्ञान को 'मिथ्या ज्ञान', सांख्य 'अविवेक' अर्थात् सत्यासत्य का अनिर्णय और वेदान्त 'अविद्या' कहता है। प्रत्येक दर्शन इसको दूर करने के लिए ज्ञान और विवेक की शिक्षा देता है जिससे आनन्द अथवा सुख की प्राप्ति होती है। यह आनन्द आत्मा का गुण है अतः सत्य आनन्द की प्राप्ति होना कठिन है। आत्मा आनन्द-स्वरूप है, अतः उसका सुख अनुभव करने के लिए दुःखदायिनी माया को दूर करना आवश्यक है। इसीलिए न्याय का उद्देश्य अपवर्ग मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्त करना है और मोक्ष या मुक्ति प्रत्येक शास्त्र का चरम ध्येय है।

अद्वैत वेदान्त का सार 'तत्त्वमसि' में निहित है। ब्रह्म निर्गुण अर्थात् गुणों और लक्षणों से रहित और सत्य है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तु मिथ्या है। जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं। भेद-भावना अविद्या अथवा मायाजन्य है और आत्मा जब अविद्या को पार कर लेती है तो उसे अपने रूप का ज्ञान हो जाता है और वह मुक्त हो जाती है। जैसे मनुष्य के सिर से बाल उगते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति है और यह काम माया का है। जैसे तागों का समूह ही कपड़ा है—तानेबाने के रूप में फैले हुए तागों से कपड़ा भिन्न नहीं है, उसी प्रकार कारण और कार्य एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। विश्व की

असत्यता में केवल इतनी ही सत्यता है कि सत्य उसकी ओट में छिपा है, जैसे छाया का अस्तित्व उस वस्तु के अस्तित्व का बोध कराता है जिसकी वह छाया है और इसीलिए सब प्रकार के कार्य आवश्यक हो जाते हैं। अतः विद्याएँ भी दो प्रकार की हैं—अपरा व्यक्त ज्ञान के लिए और परा अव्यक्त ज्ञान के लिए।

इस तात्त्विक एकता के मूल सत्य का निरूपण करके वेदान्त उन दशाओं का वर्णन करता है जिनसे अविद्या से आच्छन्न आत्मा घिरी हुई है; आत्मा के भ्रांतिपूर्ण पार्थक्य के कारण-स्वरूप उपाधियाँ, उनका स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर में वर्गीकरण और उनकी चेतन-अवस्थाओं का भी वर्णन करता है। आत्मा जब अपने को उपाधियों से अभिन्न समझती है तब वह बद्ध है, जब वह अपने सच्चे स्वरूप को जान लेती है तब मुक्त है। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए जो अभी तैयार नहीं हैं उनके लिए शास्त्रोक्त क्रिया-पद्धतियों का अनुसरण केवल वाञ्छनीय ही नहीं वरन् आवश्यक भी है; परन्तु जिन्होंने उस अवस्था को प्राप्त कर लिया है जहाँ आत्मा अनासक्त है, उन्हें केवल ज्ञान पर्याप्त है और ब्रह्म उनका ध्येय है।

इससे यह न समझना चाहिए कि ज्ञानी कर्म से विमुख रहता है। इसके विरुद्ध वह कर्म की महत्ता भली भाँति समझता है और उसमें लगे रहने की सबसे अधिक आवश्यकता भी उसी को है। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं "इसलिए अनासक्त होकर सदैव अपने कर्म का पालन करो जो तुम्हारा कर्तव्य है, क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करने से मनुष्य को निश्चय परमात्मा की प्राप्ति होती है।" "हे भारत! जिस प्रकार अज्ञानी आसक्त होकर कर्म करता है उसी प्रकार ज्ञानी

को चाहिए कि मनुष्य जाति के हित के लिए अनासक्त होकर कर्म करे।" (भगवद्गीता)

इसी प्रकार स्वयं शंकराचार्य कहते हैं "हे भगवान्! यदि मैं कर्तव्य-मार्ग पर बिना मोह के न चलता तो दूसरे लोग मेरा अनुसरण न करते।" ज्ञानी अपने चारों ओर रहनेवाले पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, मानव, देव, ईश्वर—सभी के प्रति अपने कर्तव्यों का ध्यान रखता है और उनका पालन भी पूर्ण रूप से करता है, क्योंकि वह आँखें खोलकर काम करता है और व्यक्तिगत स्वार्थ उसके निश्चित मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकते। वह स्वतंत्र होकर कार्य करता है और अनासक्त होने के कारण कर्म के बंधन में भी नहीं रहता।

ब्रह्म

'एकमेव द्वितीयो नास्ति' (केवल एक ही है, दूसरा नहीं है।)

श्रुतियाँ पुकार-पुकार कर कह रही हैं:—

"अनन्त, अद्वितीय, नित्य, निर्विकार, सर्वमिदम् तत्, निर्गुण, निर्विशेष, अनाम, अरूप, निर्गुण—ब्रह्म है।

"तब न असत् था न सत्......केवल वही अपने सहज गुणों से वर्तमान था। उससे भिन्न कुछ भी नहीं था।"

(ऋग्वेद, १०,१२१,१,२)

सब कुछ उसमें अंतर्निहित है इसलिए उसके विषय में कोई विशेष उक्ति अथवा विधेय नहीं हो सकता। वह केवल सत् नहीं है, क्योंकि फिर असत् छूट जाता है; परन्तु सत् की उत्पत्ति उसी से होती है और असत् भी उसी में है।

यह एकता—जो कभी व्यक्त नहीं होती, पर है अवश्य—विश्वों के, नियमों (विधानों) के, जगतों के और व्यक्तियों के

अस्तित्व तक में छिपी हुई है। इसे केवल सब धर्मों ने ही नहीं वरन् सब दर्शनों और विज्ञानों तक ने एक 'अनिवार्य तत्व अथवा सत्य' मानकर स्वीकार किया है। इसकी विशेषता के संबंध में अनेक मतभेद और अनंत वाद-विवाद उत्पन्न हो चुके हैं, परंतु किसी ने इसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया और आज तक इसकी कोई संज्ञा नहीं है। परंतु यह सब का आधार है और इसे कोई 'सब कुछ' कहते हैं कोई 'कुछ भी नहीं'; कोई 'पूर्ण' कहते हैं कोई 'शून्य'; कोई 'अनंत गति', कोई 'अचल शांति'; कोई इसे 'सत्य' मानता है, कोई 'सार तत्व'। इनमें सभी सत्य हैं परंतु पूर्ण सत्य एक भी नहीं। हमारे ऋषियों का कहा हुआ 'नेति-नेति' अर्थात् 'ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है', ही इस ब्रह्म की सुंदरतम परिभाषा है। फिर भी जैसा छान्दोग्योपनिषद में कहा है :—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् 'यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म है।'

उपनिषदों में 'एतद्' शब्द विश्व के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त किया जाता है, और विश्व ब्रह्म है, क्योंकि उसीसे इसकी उत्पत्ति है, उसी में यह लीन होता है और उसी से इसका पालन होता है। हमारे चारों ओर जो कुछ दिखाई देता है उसी 'पूर्ण' से उत्पन्न हुआ है और उसी एक सार वस्तु की छाया के समान है। इतने पर भी, जैसा उपनिषद् कहते हैं, उसके ढूँढ़ने के लिए हमें दूर नहीं जाना पड़ता—

"यह मेरे हृदय के अन्दर जो आत्मा है, वह ब्रह्म है।"

यह विश्व है लेकिन इस अंधकार में अर्थात् अव्यक्त अवस्था में मूल प्रकृति के रूप से अज्ञेय है। स्वयंभू के दीप्तिमान् होते ही यह व्यक्त हो जाता है। यह व्यक्ति (स्वयंभू और विश्व का प्रकट होना) समकालीन अर्थात् एक

साथ होती है, क्योंकि वह (स्वयंभू) बिना 'एतद्' के परिधान के व्यक्त नहीं हो सकता और 'एतद्' भी उससे दीप्तिमान् और अनुप्राणित हुए बिना व्यक्त नहीं हो सकता। यही द्वैत-अद्वैत जो गुण से ही सत् और असत्, आत्मा और अनात्मा, पुरुष और प्रकृति नित्य पर व्यक्त और अव्यक्त दोनों है, सब वस्तुओं का कारण है।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि वह सगुण ब्रह्म है और वह प्रकृतिस्थ, सत्, चित्, आनंद, शुद्ध सत्, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध आनंद भी माना जाता है। उसे अक्षर अर्थात् अनाशवान् कहते हैं और उसी के आधार पर प्रकृति का विस्तार होता है। वह 'आत्मान्तर्यामी अमृतः' है अर्थात् वह आत्मा है, अंतर्यामी है और अमर है; पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, स्वर्ग, सभी भूत वस्तुओं, देवताओं, तत्वों और सभी प्राणियों के शरीरों में उसका निवास है; वह सर्वव्यापी है।

ईश्वर (The Logos)

"दिन के आरम्भ में अव्यक्त (ब्रह्म) से समस्त व्यक्त (वस्तुओं) की उत्पत्ति होती है। रात्रि होने पर वह व्यक्त उसी ब्रह्म में जो अव्यक्त कहलाता है विलीन हो जाता है।"

"हे पार्थ! यह स्थूल प्राणि-समूह पैदा होकर रात्रि में विलीन हो जाता है और नियमानुसार दिन के उदय होने पर फिर पैदा हो जाता है।"

"इसलिए इस अव्यक्त से भी श्रेष्ठ एक दूसरा अव्यक्त है जो सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता।"

"उसका नाम है अव्यक्त और अक्षर (अनाशवान्)। वही परम गति या ध्येय है।" (गीता)

अब हमें इस गति, सर्ग, उत्पत्ति या विकास की प्रकृति पर

विचार करना चाहिए। भारतीय दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति अवैज्ञानिक नहीं है। उसमें असत् से सत् वस्तुओं की उत्पत्ति नहीं होती। परमेश्वर स्वयं सब प्राणियों का विकास अपने से करता है।

"जिस प्रकार मकड़ी जाला फैलाती और फिर बटोर लेती है; पृथ्वी पर घास उगती है, एक जीवित मनुष्य के सिर और शरीर से बाल पैदा होते हैं, उसी प्रकार अविनाशी से विश्व का विकास होता है।"

(मुण्डकोपनिषद् १, १, ७)

"हे प्रिय! जिस प्रकार एक दहकती हुई ज्वाला से सहस्रों रूप में एक ही प्रकार की चिनगारी निकलती है उसी प्रकार एक अविनाशी से नाना प्रकार के भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं और उसी में लौट जाते हैं।

"उसी से प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी और जल उत्पन्न होते हैं। वह सबका आधार है।"

(मुण्डकोपनिषद् २, १, १, ३, ७)

"उसी से विभिन्न क्रम से देव, साध्य, मनुष्य, पशु और पक्षी पैदा होते हैं।"

"बालू के कण शायद गिने जा सकते हैं पर विश्व के कणों की कोई गिनती नहीं।

इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि की भी कोई गिनती नहीं है। प्रत्येक विश्व में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा अन्य देवतागण हैं।" (सनातन धर्म, पृष्ठ ६१-६५)

यदि हमें यह बताया भा न जाता तो भी हम इसकी कल्पना कर सकते थे, क्योंकि जैसा विष्णुपुराण में लिखा है एक ही ईश्वर—जनार्दन—सृष्टि उत्पन्न करने के कारण ब्रह्मा, पालन करने के कारण विष्णु और संहार करने के कारण

महेश कहलाता है, और यह उत्पत्ति, पालन और संहार का कार्य प्रत्येक लोक में अवश्य होना चाहिए, अतएव प्रत्येक लोक में ईश्वर को इन तीनों रूपों में प्रकट होना आवश्यक है।

ईश्वर के ये तीन रूप, जो कर्म के कारण विभिन्न होते हुए भी तत्वतः एक हैं, ब्रह्माण्ड के प्राण हैं। उन्हीं से और उन्हीं के द्वारा इसका उद्भव, स्थिति और संहार होता है। उनके कर्तव्य-कर्म भिन्न-भिन्न अवश्य हैं, परन्तु इसी कारण वे भिन्न नहीं वरन् एक हैं। उनकी एकता कभी नहीं भूलनी चाहिए।

पुनर्जन्म

"इस विस्तृत ब्रह्म-चक्र में, जो सब जीवों का उद्गम स्थान तथा आधार है, जीवात्मा को घूमना पड़ता है जब तक वह अपने को अपने प्रेरक से भिन्न समझता है। उससे मिल जाने पर वह अमर हो जाता है।"

इस एक ही श्लोक में पुनर्जन्म और महासमाधि का कारण दे दिया गया है। मनुष्य जब तक अपने को ईश्वर से भिन्न समझता है तब तक विश्व में भ्रमण किया करता है और ज्यों ही वह अपने को ईश्वर से एकरूप जान लेता है उसे मोक्ष मिल जाता है।

श्रुति और स्मृति में, पुराण और इतिहास में; मनुष्य की आत्मा को ब्रह्म के ही समान कहा गया है।

"वह—आत्मा—ब्रह्म है।"

"यह महत् जन्मरहित आत्मा वह है जो जीवधारियों में बुद्धि कहलाती है ; यह वह है जो हृदय में आकाश कहलाता है।"

"वह महान्, जन्मरहित, अविनाशी, मृत्युरहित, अमर और निर्भय आत्मा, निर्भय ब्रह्म है।"

जैसे अग्नि से उत्पन्न चिनगारियाँ अग्नि ही होती हैं उसी प्रकार यह आत्मा वही ब्रह्म है और यही विकसित होकर प्राणधारियों में जीवात्मा कहलाता है। जिस प्रकार बीज बढ़कर अपने उत्पादक वृक्ष के समान हो जाता है उसी प्रकार जीवात्मारूपी बीज धीरे-धीरे आत्मज्ञान-सम्पन्न देवता के रूप में विकसित होता है। संसार का अस्तित्व इसलिए है कि जीवात्मा अपने को पहचान सके। जीवात्मा और ब्रह्म में उतना ही अंतर है जितना बीज और उसके उत्पादक वृक्ष में।

"ज्ञानी और अज्ञानी दोनों अजन्मा हैं; ईश और अनीश हैं।"

(श्वेताश्वतरोपनिषद् १, ६)

इसलिए चाहे जीवात्मा अज्ञाता और अनीश हो तो भी वह ज्ञाता और ईश बन सकती है। इस विकास के लिए उसका प्रयत्न करना आवश्यक है और उसका विकास जन्म और मृत्यु के चक्र पर हुआ करता है।

इस यात्रा को प्रायः पुनर्जन्म की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करती चलती है। एक शरीर के जीर्ण होने पर वह दूसरे को ग्रहण कर लेती है।

"जैसे मनुष्य एक पुराने वस्त्र को छोड़कर दूसरे नये वस्त्र को ग्रहण करता है वैसे ही शरीरस्थ आत्मा जीर्ण शरीर को छोड़कर नये को ग्रहण कर लेती है।"

(भगवद्गीता ११, २२)

'पुनरवतार' शब्द भी आजकल बहुत प्रचलित है, परन्तु अब इसके अर्थ में जीवात्मा की अपेक्षा शरीर पर ही अधिक ज़ोर दिया जाता है, जो आगे बढ़कर अस्थि-चर्मावरण के रूप में समझा जाता है।

केवल आधुनिक काल की अज्ञानावस्था में पाश्चात्य देशों में यह सत्य आँखों से ओझल रहा और फलतः मानव-आत्मा, उसकी प्रकृति और उसके ध्येय के संबंध में बड़ी-बड़ी अविवेकपूर्ण और विचित्र कल्पनाएँ होती रहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि ईश्वर के प्रेम और न्यायपूर्ण शासन पर से लोगों की श्रद्धा उठने लगी। *

"बुद्धिमान् लोग कहते हैं कि आत्मा को रथ का मालिक समझो। शरीर रथ है, बुद्धि सारथी, मन लगाम, इन्द्रियाँ घोड़े और विषय क्षेत्र है। आत्मा मन और इन्द्रियों के साथ मिलकर भोग करता है। जो अज्ञानी है, जिसका मन डावाँडोल है, उसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं जैसे एक सारथी के बिगड़ैल घोड़े उसके वश में नहीं रहते। जो बुद्धिमान् है, जिसका मन चंचल नहीं है, उसकी इन्द्रियाँ इस प्रकार वश में रहती हैं जैसे सारथी के अच्छे घोड़े उसके वश में होते हैं। जो सत्यतः अज्ञानी, विवेकशून्य और सदैव विकारग्रस्त है वह

---

* योरप के कई बड़े-बड़े लोग—जैसे गिआरडेनो, ब्रूनो, स्वेडेनबर्ग, गेटे, लेसिंग, लेवेटर, हर्डर, शॉपेनहार, इब्सेन, वान हेलमांट, लीचेनबर्ग और इँगलैंड के ह्यूम और वर्ड्सवर्थ जैसे विभिन्न व्यक्ति भी पुनर्जन्म, पूर्वअस्तित्व और कर्म-संबंधी सिद्धांतों पर आस्था रखने लगे थे। ऐसा मालूम होगा कि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में योरोपीय महाद्वीप के साहित्यिक समुदायों में उपर्युक्त सिद्धान्तों का बड़ा प्रचार था। इसके प्रमाण-स्वरूप बर्थोलेट का ट्रान्समाइग्रेशन आव सोल्स, पृष्ठ १११ देखिए। अभी हाल में मैकटगार्ट ने इसी सिद्धान्त का समर्थन बड़े ही स्पष्ट और प्रभावोत्पादक ढंग से किया है। हक्सले भी इसे असंगत नहीं मानता था। उसके ग्रंथ देखिए—रोमेन्स लेक्चर, इवोल्यूशन ऐन्ड एथिक्स, कलेक्टेड एसेज़।

लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता, वरन् फिर-फिर संसार में आता रहता है ।"

(कठोपनिषद्—१, ३, ३, ७)

सांसारिक जीवन की एक अवधि पूरी हो जाने पर जीवात्मा शरीर से अलग हो जाती है और एक सूक्ष्म यान द्वारा अगोचर (अदृश्य) लोकों में चली जाती है। सांसारिक जीवन के फल भी उसके साथ-साथ जाते हैं और उसे ऐसे लोकों में जाना पड़ता है जहाँ वे फल उचित रूप से भोगे जा सकते हैं।

यहाँ किये गये कर्मों का फल वहाँ भोग लेने पर यह जीवात्मा पुनः उस लोक से इस कर्मक्षेत्र में आ जाती है—यही इच्छा के वशीभूत रहनेवाले मनुष्यों की कहानी है।

जब तक इच्छा बनी रहती है तब तक यही नियम चलता रहता है; क्योंकि यही इच्छाएँ जीवात्मा को पुनर्जन्म के चक्कर में फँसाए रखती हैं । वास्तव में पुनर्जन्म इच्छा रखनेवाले मनुष्यों की कहानी है। देवी भागवत में भी इसी प्रकार का मत प्रकट किया गया है।

जीव पूर्व शरीर को छोड़कर अपने कर्मफल के अनुसार स्वर्ग या नरक को प्राप्त होता है। जीवात्मा एक दिव्य शरीर अथवा इच्छाओं के कारण एक दुःखमय शरीर पाकर स्वर्ग या नरक में भिन्न-भिन्न फलों का भोग करती है।

कर्मफल की समाप्ति के पश्चात् अथवा जब जीवात्मा अपने कर्मों का फल भोग चुकती है और पुनर्जन्म का समय आता है तब काल उसे उसके संचित कर्मों के अनुसार चुने गये कर्मों से फिर संयुक्त कर देता है।

जीवात्मा के चित्‌रूप की उन्नति और उसके इच्छारूप की शुद्धि—जो जीवन-विकास की मानवीय अवस्था की मुख्य क्रियाएँ हैं—मनस् और अनन्तर बुद्धि की उत्पत्ति और अंत

में इन्द्रियों के सम्मिलन से मनुष्य अर्थात् शरीरी पूर्णता को प्राप्त होता है और उसका निवास-स्थान—शरीर—पंचतत्वों का बना होता है। शरीर की मध्यस्थता द्वारा इन्द्रियों का बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क से जो परिणाम होता है उसे इन्द्रियाँ मन के पास पहुँचा देती हैं, जिससे सम्पर्क में आई हुई वस्तु का जैसा प्रभाव होता है उसी के अनुसार गुण और विशेषताओं का ज्ञान होता है। मन इन परिणामों को ग्रहण करता है और अंतर्निहित विशेषताओं के आधार पर उनका मानसिक प्रतिबिम्बों में वर्गीकरण करता है। यह जीवात्मा का बाहर की ओर जाना और अनुभव प्राप्त करना है। इसे प्रवृत्ति मार्ग या बहिर्गमन कहते हैं।

जब इन्द्रियाँ शरीर द्वारा बाह्य जगत् के सम्पर्क से अलग रखी जाती हैं तब वे शान्त हो जाती हैं। ऐसी दशा में मन को इन्द्रियों द्वारा प्राप्त मानसिक चित्रों (प्रतिबिम्बों) पर विचार नहीं करना पड़ता। अतः वह भी शान्त हो जाता है। मन द्वारा उपस्थित किये गये भावों पर बुद्धि को विचार नहीं करना पड़ता। अतः वह भी शान्त होकर आत्मा का रूप झलकाती है। जब तक मन का झुकाव इन्द्रियों की ओर रहता है तब तक उसे दुःख मिलता रहता है। जब वह बुद्धि की ओर झुकता है तब उसे सुख मिलता है।

इस प्रत्यागमन या निवृत्ति मार्ग में जीवात्मा संसार का भ्रमण करके लौटता है और इसी के द्वारा वह अपने नित्य और सुखमय स्थान पर पहुँचता है। इस मार्ग पर चलती हुई जीवात्मा प्रवृत्ति मार्ग के ऋण से मुक्त होती चलती है।

आत्मा का अनुभव या दर्शन प्राप्त कर लेना ज्ञान है। आत्मा से प्रेम करना भक्ति है। आत्मा की सेवा करना कर्म है। ये ही ज्ञान, भक्ति और कर्म मोक्ष के तीन मार्ग हैं। ज्ञान-

मार्ग उनके लिए है जिन में चित् की प्रधानता है। इच्छा की प्रधानता रखनेवालों के लिए भक्ति-मार्ग है और क्रिया-प्रधान पुरुषों के लिए कर्म-मार्ग है। लेकिन प्रत्येक जीवात्मा के तीन रूप हैं। अतः प्रत्येक मार्ग में उसके तीनों रूपों का पूर्ण विकास होना चाहिए। ज्ञानी जैसे-जैसे ज्ञान प्राप्त करता जाता है वैसे-वैसे उसमें भक्ति और कर्म का भी उदय होता है। भक्ति की पूर्णता के साथ ही भक्त की प्रवृत्ति कर्म और ज्ञान की ओर झुकती जाती है और एक कर्मण्य के कर्म जब नितान्त स्वार्थ-रहित हो जाते हैं तब वह ज्ञान और भक्ति भी प्राप्त कर लेता है। तीनों मार्ग वास्तव में एक हैं जिनमें प्रकृति की विभिन्नता के कारण कभी एक और कभी दूसरे उपादान पर ज़ोर दिया जाता है। योग उस साधना का नाम है जिससे आत्मा का दर्शन हो सकता है तथा उससे प्रेम और उसकी सेवा की जा सकती है।

जिसने मोक्ष प्राप्त कर लिया है उस मुक्त पुरुष के लिए तीन लोकों में कर्मशील रहना आवश्यक नहीं—वह चाहे रहे चाहे न रहे। ऋषिगण मुक्त हैं फिर भी संसार की रक्षा और पालन में लगे रहते हैं। जनक मुक्त थे और राजा भी थे और अपना राजकाज सम्हालते थे। तुलाधर मुक्त थे और एक सौदागर की भाँति अपना सामान भी तौला करते थे। इतिहास में ऐसी अनेक कथायें हैं जिनसे मालूम होता है कि अनेक मुक्त पुरुष भौतिक स्थितियों से घिरे रहे। क्योंकि मुक्ति का अर्थ स्थिति का परिवर्तन है, स्थितियों का परिवर्तन नहीं; जीवात्मा का आत्मा और अनात्मा के प्रति जो भाव है उसमें परिवर्तन होना चाहिए न कि जीवात्मा के चारों ओर की परिस्थिति में।

आकारों का एक क्रम-सा लगा हुआ है। एक पुराने

आकार से नए की उत्पत्ति होती है और वह स्वतंत्र सत्ता धारण कर लेता है। इसी प्रकार जीवात्मा के विकास में जीवन का क्रम बंधा हुआ है।

विकासोन्मुख मन की तीन अवस्थाएँ हैं—(अ) काम के वशीभूत होना ; (ब) काम से विरोध करना और (स) काम के ऊपर विजय प्राप्त करना और उच्चतर विवेक-शक्तियों को बढ़ाना।

बुद्धि का विकास होता है और तब मुक्ति प्राप्त होती है। जीवात्मा किस प्रकार अज्ञानता से सज्ञानता, निर्बलता से सबलता की प्राप्ति करता है, इसके विकास की सत्यता श्रुतियों में निश्चित रूप से प्रकट की गई है। सदाचार तथा विवेकपूर्ण जीवन-निर्वाह के लिए उसका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। मनुष्य की जीवन-अवधि एक दिन की नहीं है कि आज यहाँ है और कल उसका अंत हो जाय, वरन् यह तो एक अजर, अविनाशी सत्ता है जो अपने सच्चे रूप और शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता हुआ अग्रसर हो रहा है। दिव्य ज्ञान और शक्ति की पूर्णता—सब कुछ उसमें अंतर्निहित है, परन्तु इस शक्ति को प्रकट करना आवश्यक है और जीवन तथा मरण का उद्देश्य भी यही है। मनुष्य की प्रकृति के संबंध में ऐसी धारणा उसको गौरव, शक्ति और गांभीर्य प्रदान करती है।

लोक— दृश्य और अदृश्य

जन्म और मरण के चक्र पर सवार होकर जीवात्मा तीन लोकों में भ्रमण किया करती है। वे भूर्लोक या भूलोक (स्थूल जगत्), भुवर्लोक—स्थूल जगत् के बाद दूसरा लोक जो सूक्ष्मतर पदार्थ का बना हुआ है—और स्वर्लोक या स्वर्ग हैं। इनसे परे चार और लोक हैं जो जीवात्मा के उच्चतर विकास

के स्थान हैं—महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक। पहले तीन लोक सृष्टि के एक दिन में अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में नष्ट हो जाते हैं और दूसरे ही दिन फिर पैदा होते हैं। दूसरे चार लोक स्थित रहते हैं किन्तु महर्लोक रहने के अयोग्य हो जाता है और निवासी उसे छोड़ कर चले जाते हैं। इसलिए ब्रह्मा की रात्रि में चार लोकों को नष्ट हुआ मानना चाहिए और केवल तीन लोक—जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक—रह जाते हैं। ये सातों लोक ब्रह्माण्ड के ही अंतर्गत हैं। दो और लोक—बैकुण्ठ और गोलोक—उससे (ब्रह्माण्ड से) परे हैं परन्तु यहाँ से उन लोकों तक पहुँच हो सकती है।*

इन्द्रलोक, सूर्यलोक, पितृलोक आदि दूसरे लोक इन सात लोकों के अन्दर स्थित विशेष क्षेत्र हैं जैसे एक महाद्वीप में अनेक देश होते हैं। ये लोक जीवात्मा की चिद्‌शक्ति के विकास की द्योतक अवस्थायें हैं। जैसे-जैसे उसकी शक्ति प्रकट होती है, वह क्रम से एक के बाद दूसरे लोक का ज्ञान प्राप्त करता चलता है और भूत या तत्वों से बनी हुई उन उपाधियों में अनुभव, विचार और कर्म करने के योग्य हो सकता है जो चेतना की इन अवस्थाओं के अनुकूल होती हैं।

प्रत्येक लोक ईश्वरीय चेतना की एक अवस्था का प्रतिनिधि (सूचक) है और स्थान रूप से प्रकृति का एक संशोधन है जो चेतना की अवस्था - विशेष प्रकट करता है। जीवात्मा की प्रकृति ईश्वर के समान है, अतः वह चेतना की इन सातों अवस्थाओं को पहुँच सकता है और प्रकृति के इन संशोधनों अथवा सातों लोकों से सम्पर्क रख सकता है। इन सात लोकों

*—विष्णु पुराण—१. ३।

के मेल से ब्रह्माण्ड बनता है जिसके भीतर विधाता का सृष्टि-क्रम चलता है ।

"पाताल से ब्रह्मलोक तक ब्रह्माण्ड कहलाता है। उससे परे, ब्रह्माण्ड से बाहर, वैकुण्ठ है । उससे भी परे गोलोक है जो पचास करोड़ योजन तक फैला है। यह नित्य और सत्य के तुल्य है। जो कृष्ण हैं, वही यह है।

"पृथ्वी के ऊपर भुर्लोक है; उसके बाद भुवर्लोक है; तब स्वर्लोक और उससे परे जनलोक है । उससे भी परे तपोलोक है और आगे चलकर सत्यलोक है । उससे भी आगे ब्रह्मलोक है जो जलते हुए सोने के समान है ।

"हे नारद ! यह सब एक दूसरे के अंतर्गत बने हैं। जब एक नष्ट होता है सब नष्ट हो जाते हैं। यह समस्त विश्व पानी के बुलबुले के समान क्षण-भंगुर है । गोलोक और वैकुण्ठ नित्य और अरचित कहे जाते हैं ।"*

यहाँ "पाताल" के अंतर्गत सातों तल हैं; महर्लोक छोड़ दिया गया है और सात पूरा करने के लिए अन्त में ब्रह्मलोक जोड़ दिया गया है ।

इनमें से प्रत्येक लोक एक निश्चित क्षेत्र है और इनमें अंतर होने का कारण उन पदार्थों की प्रकृति है जिनसे प्रत्येक लोक बने हुए हैं। भुर्लोक अथवा पृथ्वी में जिस तत्व की प्रधानता है उसे पृथ्वी-तत्त्व कहते हैं। इसके सात संशोधित रूप घन (स्थूल), तरल, वाष्पीय, प्रकाश-तत्व, आकाशीय, सूक्ष्माकाशीय और आणव—हैं। प्रकृति के इन संशोधनों के कारणभूत अणुओं के विविध प्रकार से सम्मिलन और वर्गीकरण में पृथ्वी-तत्त्व की प्रधानता है।

---

* देवी भागवत ६–८, १०,१२, १६ । इसी तरह का पाठ विष्णु भागवत में भी है—३, १७, ७, ६ ; ११, २८, ३१ ।

मृत्यु के समय और पश्चात् जीवात्मा निम्नतर कोषों को छोड़ देता है और पितृलोक में रहने के पश्चात् शुद्ध मनोमय कोष को धारण कर स्वर्गलोक में रहता है।*

आश्रम चतुष्टय

जीवन एक पाठशाला है जहाँ रहकर जीवात्मा को अपनी शक्तियाँ प्रस्फुटित करनी पड़ती हैं। यदि वह ऐसा करने में सफल होता है तो जीवन सार्थक है अन्यथा निरर्थक।

जीवन को चार भागों या आश्रमों में बाँटा गया है—(१) ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) (२) गृहस्थ, (३) वाणप्रस्थ (अरण्य-वासी) और (४) संन्यासी अर्थात् संयमी या प्रयत्नशील जिसे यति भी कहते हैं।

"ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, आरण्यक और संन्यास—ये चार भिन्न आश्रम गृहस्थ से ही उत्पन्न हुए हैं।"[१]

"मनुष्य को चाहिए कि क्रमपूर्वक इनका पालन करे और बिना समय के आए किसी को धारण न करे। एक के पूरे हो जाने पर ही दूसरा धारण किया जाय।

"ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए चारों वेदों का अथवा दो वेदों का अथवा एक ही वेद का अध्ययन करके उसको गृह-स्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए।"[२]

"गृहस्थ जब देखे कि उसकी खाल में झुर्रियाँ पड़ गईं, बाल सफेद हो गए, बेटे के बेटे हो गए, तो उसे जंगल में चला जाना चाहिए।"[३]

* सनातन धर्म—पृष्ठ १४२—१४५

१—मनुस्मृति—८-८७ ।

२—मनुस्मृति—३-२ ।

३—मनुस्मृति—६-२ ।

"जीवन का तीसरा हिस्सा जंगल में बिताकर उसे चाहिए कि मोह का परित्याग कर संन्यासी की भाँति फिरता हुआ चौथी अवस्था बितावे।" ४

यह क्रम जीवात्मा के विकास तथा समाज के समुचित संचालन के लिए आवश्यक समझा जाता है। मनु कहते हैं कि "एक द्विज जो बिना वेदों के पढ़े, बिना संतान उत्पन्न किए और बिना यज्ञ किए मोक्ष चाहता है, वह नीचे गिर जाता है।"

ब्रह्मचारी को संन्यासी होने की आज्ञा बहुत कम और केवल अपवाद रूप से कहीं-कहीं मिली है और वहाँ भी केवल इसलिए कि ऐसे व्यक्तियों ने संसार के प्रति अपना ऋण पूर्व जन्म में अदा कर दिया था। इन उदाहरणों से साधारण क्रम में कोई अव्यवस्था नहीं हुई। सच तो यह है कि ऐसे संन्यासियों को वास्तविक संन्यासी नहीं कहते थे, वरन् बाल या नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते थे जैसे शुक और कुमार ऋषिगण। आजकल बहुत से नवयुवक संन्यासी दिखाई देते हैं। ये सनातन नियमों के विरुद्ध व्रत का पालन कर रहे हैं और देश में नैतिक दुराचार, पाप और निर्धनता के कारण हैं।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारी को मद्य, मांस, गन्ध, फूलमाला, स्त्री-संसर्ग, सभी प्रकार के अम्ल पदार्थ तथा प्राणियों की हिंसा से दूर ही रहना चाहिए।

"जुआ, व्यर्थ आलाप, परापवाद, असत्य भाषण, स्त्रियों पर कुदृष्टि और स्पर्श तथा दूसरों को पीड़ित करना त्याग दे।

"सदैव अकेला सोवे, वासना से कहीं वीर्यपात न करे क्योंकि वासना से वीर्यपात करता हुआ वह अपने व्रत को

४—मनुस्मृति—३३।

नष्ट करता है। ब्रह्मचारी द्विज यदि बिना इच्छा के स्वप्न में वीर्यपात करे तो वह स्नान कर गंध फूल आदि से सूर्य का पूजन करे और फिर 'पुनर्मामेतु इन्द्रियम्' इस मंत्र का तीन बार जाप करे।" १

युवावस्था की शुद्धता और पवित्रता पर इसलिए ज़ोर दिया गया है कि मनुष्यों के बल और तेज की स्थिरता, शरीर की नीरोगिता, स्वस्थ संतान और दीर्घ आयु केवल इस एक ब्रह्मचर्य के पालन पर निर्भर है। हस्त-मैथुन सबसे बढ़कर रोगों और अकाल-जर्जरता का कारण है। इसीलिए प्राचीन व्यवस्थापकों और गुरुओं ने विद्यार्थी-जीवन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य कर दिया था; यहाँ तक कि धीरे-धीरे विद्यार्थी और ब्रह्मचारी शब्द पर्यायवाची माने जाने लगे। एक ब्रह्मचारी के लिए ऊपर दिये हुए आदेशों का—जुआ खेलना, नाच, गाना और बाजों से दूर रहना इत्यादि—लक्ष्य यही है कि विद्यार्थी ऐसी संगति और प्रलोभनों से दूर रहें जिनसे उनके व्रत के टूटने अथवा पालन न कर सकने का भय हो। सादा भोजन, कठिन परिश्रम, मितव्ययी जीवन—इनसे शरीर पुष्ट होता है और कष्ट झेलने का अभ्यास हो जाता है।

गृहस्थ—

"हितचिंतक पिता, भाई, पति और देवरों को उचित है कि स्त्रियों को आदर भाव से रखें और उन्हें भूषित करें।

"जिस कुल में स्त्री की पूजा और सम्मान होता है वहाँ देवताओं की प्रसन्नता रहती है और जहाँ स्त्रियों का सम्मान नहीं होता वहाँ यज्ञादि सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।

"जिस कुल में स्त्रियाँ दुखी रहती हैं वह शीघ्र नष्ट हो

१—मनुस्मृति-२-१७५-१८१।

जाता है और जिसमें वह दुखी नहीं रहती वह सदैव उन्नतिशील रहता है।

"जिस कुल में पति पत्नी से और पत्नी पति से संतुष्ट रहती है वहाँ सदैव प्रसन्नता छाई रहती है।" १

गृहस्थ आर्य-जीवन का प्राण है। सब कुछ उसी पर निर्भर है। "जिस प्रकार सब जीव हवा के बल पर जीते हैं, उसी प्रकार अन्य सब आश्रम गृहस्थ पर निर्भर हैं।"

"वेद श्रुति के उपदेशानुसार इन चारों आश्रमों में गृहस्थ सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। निश्चय ही वह अन्य तीनों आश्रमों का पालन करता है।"

"जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्र में जाकर विश्राम लेती हैं उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थ से मिलकर शान्ति प्राप्त करते हैं।"

अतः सब आश्रमों में गृहस्थ श्रेष्ठतम है। धन एकत्र करना और उचित रूप से उसे बाँटना उसका कर्तव्य है और इस दृष्टि से वैश्य गृहस्थों के लिये आदर्श है। अतिथि-सत्कार उसका एक मुख्य धर्म है और इसमें उसे कभी नहीं चूकना चाहिए।

आदि से अंत तक एक सुनियमित जीवन ही 'आश्रम-चतुष्टय' का आदर्श है। इनमें दो आश्रम—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—में जीवात्मा प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण करता है जिसमें वह अपने से बाहर जाकर बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। अंतिम दो आश्रम—वाणप्रस्थ और संन्यास—संसार से विरक्ति के द्योतक हैं। ये मनुष्य के जीवन में निवृत्ति के प्रकट करने वाले हैं। प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य के लिए यह चार आश्रमों वाला मार्ग ऐसी बुद्धिमानी से निर्धारित किया

१—मनुस्मृति—२-७७।

था कि इस मार्ग पर चलने वालों को निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का सुन्दर सामंजस्य मिलेगा । प्रथम, विद्यार्थी जीवन में नियमपूर्वक रहना और यथायोग्य निर्वाह करना; द्वितीय, गृहस्थ आश्रम में सांसारिक कार्यों में सभी ओर से लगे रहना फिर सांसारिक झंझटों से धीरे धीरे अलग होना, अंतर्मुख होना और जहाँ तक हो सके संसार से अलग रहकर ध्यान पूजा में लीन रहना, सांसारिक व्यवहारों में निमग्न नवयुवकों को बुद्धिमानी की सलाह देना; और अंत में कम से कम कुछ लोगों के लिए पूर्ण विरक्त जीवन व्यतीत करना ही आदर्श जीवन है ।

यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि इन चारों आश्रमों के पालन करने और मोक्ष प्राप्त करने का उद्देश्य लोकों का अस्तित्व बनाए रखना और ईश्वर के साथ उसके उदार शासन के विकास की रक्षा में सहयोग प्रदान करना है । ऐसा मनुष्य मोह उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के बीच में रहता हुआ भी उससे दूर रहता है, सम्पत्तियों का स्वामी होता हुआ भी अपना कुछ नहीं समझता । वही आदर्श गृहस्थ है और उसके देखने से मनु के इस वाक्य की सत्यता प्रमाणित होती है कि गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है क्योंकि इसी से सबका पालन होता है । सच्चा गृहस्थ वही कहला सकता है जो अपने को स्वामी न मान कर एक शासक का आदर्श मानता है; सब का स्वामी न बन कर सबका सेवक बनता है । २

जैन धर्म—जीवन-दर्शन

जैन धर्म के मूल तत्व निम्नलिखित हैं:

१—मनुष्य के दो व्यक्तित्व हैं—भौतिक और आध्यात्मिक ।

२—सनातन धर्म पृ० —२२१—२३७ ।

निर्जीव पदार्थ और मानव-शरीर को अनुप्राणित करने वाले जीवन-तत्व का द्वैत प्रत्यक्ष है। इसकी प्रकृति (लक्षण) के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है परन्तु द्वैत की सत्यता के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त हिन्दुओं के ब्रह्म सिद्धान्त (अद्वैतवाद) का घोर विरोधी है क्योंकि वहाँ तो एक आत्मा ही सब कुछ है।

२—मनुष्य पूर्ण नहीं है। उसका सुधार संभव है अर्थात् वह पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता है। मनुष्य की आत्मा पूर्णता प्राप्त कर सकती है। पूर्णता प्राप्त कर लेने पर आत्मा अपने नित्य और सत्य रूप का अनुभव करती है जिसके चार अनन्त लक्षण हैं—अनन्त श्रद्धा, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख।

३—मनुष्य अपनी अध्यात्मिक प्रकृति से अपनी भौतिक प्रकृति पर शासन कर सकता है और उसे करना भी चाहिए। भौतिक प्रकृति को पूर्ण रूप से दबा लेने पर ही आत्मा पूर्णता, स्वतंत्रता और सुख प्राप्त कर सकती है।

४—जैन धर्म का अन्तिम मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य स्वयं और एक मात्र वही अपने जीवन की अच्छाइयों और बुराइयों का ज़िम्मेदार है।

अन्य मतों से तुलना करने पर एक आवश्यक बात यह दिखाई पड़ेगी कि ईश्वर के संबंध में जैन मत की धारणा निश्चित और निराली है। उसके ऊपर नास्तिकता का लांछन लगाया जाता है किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि जैन मत ईश्वरत्व में और असंख्य देवताओं में विश्वास रखता है। हाँ, एक नास्तिकता उसमें अवश्य है कि वह अपने देवताओं के सृष्टि-कर्तृत्व में विश्वास नहीं रखता। सृष्टि-कर्तृत्व में संकल्प या रचना करने की इच्छा अन्तर्निहित है। इच्छा का संबंध किसी

ऐसी वस्तु या घटना से होता है जिसका अस्तित्व तो नहीं है पर होना आवश्यक है। इससे ईश्वर की अपूर्णता सिद्ध होती है और ईश्वर अपूर्ण नहीं हो सकता। वह विश्व का रचयिता है—ऐसे ईश्वरवाद के विरुद्ध यह तर्क बहुत ही प्रचलित और साधारण है। सारांश यह कि सृष्टिवाद में विश्वास रखने वाले ईश्वर को मनुष्य-रूप बना देते हैं और वह अभाव और अपूर्णता की श्रेणी में उतार दिया जाता है। दूसरी ओर जैनमत मनुष्य को ऊपर उठा कर ईश्वरत्व तक पहुँचा देना चाहता है और दृढ़ श्रद्धा, सद् बुद्धि, पूर्ण ज्ञान और सर्वोपरि निर्दोष चरित्र द्वारा जहाँ तक हो सके ईश्वर के पास पहुँचने के लिये प्रेरित करता है।*

तत्व ज्ञान

तात्विक विज्ञान में देखा गया है कि विभिन्न काल और दर्शन की विविध अवस्थाओं में मनुष्य जोव और अजीव को मानता आया है और सदैव एक या दूसरे को महत्व प्रदान करने का प्रयत्न करता रहा है। उसने कभी तो वेदान्तियों के ब्रह्म अथवा पदार्थवादियों के पदार्थ की भाँति एक मूल तत्व, कभी सांख्य सिद्धान्त के अनुसार अनेक तत्वों और कभी दो तत्वों अथवा द्वैत का निरूपण किया। जैनमत साधारण बुद्धि के आधार पर स्थित है। अतः उसके सिद्धान्तों की परीक्षा हर एक व्यक्ति स्वयं कर सकता है। जैनमत विश्व को दो नित्य, अरचित, सहवर्ती पर स्वतंत्र पदार्थों में विभाजित करता है—आत्मा (जीव) और अनात्मा (अजीव)। तर्क की दृष्टि से यह विभाजन पूर्ण और आक्षेप रहित है। अजीव के पाँच उपभाग हैं—द्रव्य, काल, आकाश और गति

---

* आउटलाइन्स आन जैनिज़्म पृ० १–३–४ के आधार पर।

तथा स्थिति के सिद्धान्त। जीव श्रेष्ठ और एक मात्र उत्तरदायी पदार्थ है। अपनी पूर्ण और अन्तिम या निर्वाणावस्था को छोड़कर यह सदैव द्रव्य के साथ मिला रहता है। शरीर-अजीव-निम्नतर पदार्थ है और जीव द्वारा उसको अवश्य पराजित रखना चाहिए। जीव और अजीव की एकता का सूत्र कर्म है और जीव और अजीव तथा कर्म की उत्पत्ति, परिणति और विनाश जैनमत के तत्त्व कहलाते हैं †।

दूसरा अध्याय

दो मार्ग

प्राचीन स्मृतिकार मनु ने जीवन की जो व्यवस्था निर्धारित की है वह सांसारिक गति के पूर्ण निरीक्षण पर स्थित है। उन्होंने आत्मा और अनात्मा, पुरुष और प्रकृति तथा जीव और पदार्थ के अन्योन्याश्रित संबंध और परस्पर सहकारिता का ध्यान रखा है। झूले के समान एक निश्चित लय पर चलने वाली यह द्वन्द्वों की पारस्परिक क्रीड़ा अनेक नामों से पुकारी जाती है। संसार की गति की उपमा एक वृत्त से दी गई है। वृत्त का एक अर्द्ध-भाग वह वृत्तांश है जो आत्मा का पदार्थ में मिलना या अवतरित होना प्रकट करता है और दूसरा अर्द्ध भाग वह वृत्तांश है जो आत्मा का पदार्थ से अलग होना या पुनः ऊपर उठना प्रकट करता है। हम कह सकते हैं कि आत्मा पदार्थों में, म्यानों में, शरीरों में, अथवा उपाधियों में

---

† आउटलाइन्स आव जैनिज़्म पृ० २१-२३ के आधार पर।

सन्निविष्ट हो जाता है और फिर उससे अलग हो जाता है। इस क्रिया का पहला अर्द्ध-भाग प्रवृत्ति और दूसरा निवृत्ति कहलाता है।

मनु के जीवन-संबंधी सिद्धांत, जो उनकी स्मृति से संगृहीत किए जा सकते हैं, थोड़े ही शब्दों में प्रकट किए जा सकते हैं। इनमें से दो प्रवृत्ति और निवृत्ति का उल्लेख पहले हो चुका है। एक अर्थ में ये ही सबसे प्रमुख हैं और अन्य इन्हीं पर निर्भर हैं। इन दोनों के अनेक रूपांतर हैं, लेकिन सबके अन्तर्निहित भाव एक ही हैं। स्मृतियाँ, भगवद्गीता, पुराण—सबमें प्रवृत्ति और निवृत्ति का ही विवेचन है। दर्शनों में भी इनका वर्णन है। न्याय और वैशेषिक में इन्हीं को उत्पत्ति और लय अथवा दुःख और परम सुख कहा गया है। मीमांसा में ये बंधन में डालने वाले तथा उनके विरोधी (बंधन से मुक्त करने वाले) कर्म माने गये हैं और सांख्य तथा योग में एक उद्योग करना और दूसरा तटस्थ रहना कहलाता है।

परंतु इनका सबसे अधिक परिचित नाम बंधन और मोक्ष है, जैसा कि वेदांत में मिलता है। जैन लोग इन्हीं को उन्नति और अवनति अथवा क्रिया और प्रतिक्रिया कहते हैं। बुद्ध अथवा बौद्ध इन्हें तृष्णा—पृथक् और वैयक्तिक जीवन की लालसा—और निर्वाण—उस लालसा का बुझना—की संज्ञा देते हैं! अन्त में आधुनिक विज्ञान उन्हीं भावों को विकास और अविकास, संश्लेषण और विश्लेषण तथा लोकों और लोक-नियमों की उत्पत्ति और विनाश के नाम से पुकारता है। प्रत्येक नया या पुराना शब्द विभिन्न दृष्टिकोणों से न्यूनाधिक मात्रा में उसी भाव को प्रकट करता है जिसने जिस दृष्टि से संसार को देखा उसी के अनुकूल शब्दों का प्रयोग भी किया।

जैसे, आधुनिक विज्ञान ने वस्तुओं के बाह्यमूलक पदार्थत्व की ओर अधिक ध्यान दिया अतः उसमें संश्लेषण और विश्लेषण शब्दों का प्रयोग हुआ है। दार्शनिकों ने वस्तुओं को आन्तरिक और आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है अतः वे उन शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो उस आन्तरिक शक्ति के द्योतक हैं, जो परमाणुओं के संश्लेषण और विश्लेषण की प्रेरणा करते है। इन दो-दो नामों के जोड़ों के पीछे जो सत्य छिपा हुआ है वह यह है कि सांसारिक गति का झूला नियमित और लय-संयुक्त है। इसी एक सत्य के आधार पर उस महान् व्यवस्थापक या स्मृतिकार ने जीवन-संबंधी लौकिक और पारलौकिक नियमों का निर्माण किया है।

कुछ और अधिक गहराई से विचार करने पर हमको उन्हीं अंतिम दो वस्तुओं का पता मिलेगा जिनको आत्मा और अनात्मा, विषयी और विषय, जीव और पदार्थ के भिन्न भिन्न नामों से पुकारा गया है। ये ही विभिन्न रूपों और नामों से सब मतों में स्वीकार किये गए हैं। इनकी ठीक ठीक प्रकृति या रूप रंग जो कुछ भी हो, पर इनकी सत्ता सर्वथा स्वीकृत है। जहाँ इनको नाम दे दिया जाता है और इनके पारस्परिक व्यवहारों का उल्लेख हो जाता है वहाँ मानसिक विचार और संसार की सब वस्तुओं का अंत हो जाता है। इनसे बाहर कुछ भी नहीं है। आत्मा जब स्थूल शरीर धारण करता है—चाहे वह जीवाणु के समान छोटा हो अथवा सूर्य-मंडल के समान विस्तृत, चाहे अचिंत्य आकाश के समान सूक्ष्म हो अथवा चट्टानों और धातुओं के समान स्थूल और कठोर—तब उसका प्रत्यक्ष होना प्रवृत्ति कहलाता है। उस स्थूल शरीर का प्रत्यागमन अथवा अपने आप में लय होना निवृत्ति है। यह क्रम सर्वत्र और सदैव, काल, स्थान और गति के प्रत्येक

सम्भव परिमाण में और सरलता तथा जटिलता की प्रत्येक अवस्था में अनन्त रूप से चल रहा है।

यह सत्य है कि जैसे इस विश्व की अनंत गति में कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु से अथवा सभी वस्तुओं से बिलकुल पृथक् नहीं है, वैसे ही कोई भी जीवन-चक्र अन्ततः और सत्यतः एकदम पूर्ण और स्वतंत्र नहीं है। ऐसे प्रत्येक चक्र का एक अर्द्ध भाग जीव का जड़ पदार्थ में प्रवेश करना अथवा उतरना है, और दूसरा अर्द्ध-भाग जड़ पदार्थ से पृथक् होना अथवा अपनी पूर्व स्थिति को पहुँचना है। अतः यदि हम चाहें तो एक अर्द्ध-भाग को विकास और दूसरे को अविकास अथवा पहले को अविकास और दूसरे को विकास कह सकते हैं।

आधुनिक विकासवाद-संबंधी विचार संस्कृत ग्रन्थों में अस्वीकृत नहीं है। ऐतरेय आरण्यक में लिखा है कि आत्मा का प्रकाश खनिज पदार्थों में सब से कम, उद्भिद् में उनसे अधिक, पशुओं में और अधिक, मनुष्यों में उससे भी अधिक है और इसी प्रकार उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

इन्हीं विकास और अविकास के दो अर्द्ध-भागों के मेल से लय-संयुक्त नाड़ी का निर्माण होता है जो प्रत्येक जीवन का हृत्स्पंदन (हृदय की धड़कन) है। इसी नियम के अनुसार हम अथवा हमारी आत्माएँ दीर्घ काल तक खनिज, उद्भिद् और जीवधारियों से एकाकार और फिर उनसे अलग हो इस मनुष्यावस्था को प्राप्त होकर इस योग्य हुई हैं कि भूत और भविष्य पर विचार कर सकें; क्योंकि ऐसा प्रतीत होगा कि इस विशेष चक्र अथवा क्रम में, सांसारिक शृंखला में अपने विश्व का मानव उस स्थान पर स्थित है जहाँ दोनों मार्गों के संगम-स्थान पर एक घुमाव पड़ता है। केवल वही व्यक्ति जो ऐसे बीच रास्ते पर खड़ा है, अपने आगे और पीछे दोनों

रास्तों को भलीभाँति देख सकता है और वही अपने व्यक्तित्व तथा स्थिति को जान सकता है। वही ऐसे प्रश्न कर सकता है कि उसका कर्तव्य क्या है और वह क्यों और कैसे उसे पूरा करे तथा इन प्रश्नों का समाधान भी वही कर सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि वह अपने जीवन का उद्देश्य क्या निर्धारित करे और किस प्रकार चले कि उस उद्देश्य को पूर्ण रूप से प्राप्त कर ले। दोनों अर्द्ध-भागों का एक साथ विचार करने पर आत्म-ज्ञान अथवा ईश्वर-ज्ञान—चाहे हम जो नाम दें—इस सब सांसारिक गति का परम सुख, उद्देश्य और लक्ष्य बन जाता है। किन्तु उनको पृथक्-पृथक् लेने से यह प्रत्यक्ष है कि प्रत्येक अर्द्धभाग का ध्येय दूसरे से भिन्न होगा।

मनु के अनुसार जीवन के प्रवृत्ति मार्ग के तीन लक्ष्य हैं—धर्म, अर्थ और काम। दूसरे अध्याय के दो सौ चौबीसवें श्लोक में उन्होंने कहा है—"कुछ लोग कहते हैं कि कर्तव्य-पालन और धन एकत्र करना परम सुख है और दूसरे लोग कहते हैं कि धन और इन्द्रियों का सुख भोग परम सुख है। कुछ केवल कर्तव्य-पालन को परम सुख मानते है, कुछ केवल धन को। लेकिन दृढ़ सत्य यह है कि तीनों मिलकर प्रवृत्ति मार्ग के लक्ष्य हैं।"

हाँ, यह कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति मार्ग का लक्ष्य केवल "काम" है। 'काम' शब्द का अर्थ है इन्द्रियों का सुख भोगना और उसकी इच्छा करना। इन (इन्द्रियों के सुखोपभोग) के संसर्ग से आत्मा जड़ पदार्थ में सदैव अधिकाधिक लीन होती जाती है और मांसपिंड रूपी वस्त्र के साथ एकता का अनुभव करने लगती है। अब प्रश्न यह उठता है कि तब मनु ने काम को उन दोनों (अर्थ, धर्म) के साथ क्यों मिलाया, जिनका प्रवृत्ति मार्ग से कोई सम्बन्ध ही नहीं है? सच तो

यह है कि वे अन्य दो की अपेक्षा धर्म पर ही अधिक ज़ोर देते हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो वे ऐन्द्रिय-सुख की वासना की निन्दा भी करते हैं। आखिर वे ऐसा क्यों करते हैं? इसका कारण यह जान पड़ता है कि मनुष्य जिस अवस्था को प्राप्त कर चुका है और जिस अवस्था के लिए ये विधान हैं, उसमें वासना की प्रशंसा की आवश्यकता ही नहीं है। सृष्टि के आदि काल में इसकी आवश्यकता हो सकती थी। "पुरुष ऐन्द्रिय विषयों का आकर्षण तथा उनसे आदि में मिलने वाले सुखों और अन्त में निश्चयपूर्वक प्राप्त होनेवाले दुःखों की तीव्रता (उग्रता) को नहीं समझता। इसलिए दूसरे की बुद्धि के विकास में असमय या अपरिपक्वावस्था में बाधा डालना उचित नहीं। वह तो विषयों के बीच में रहकर केवल व्यवहार से विकसित होती है। उसे इस योग्य बनाना चाहिए कि वैराग्य और त्याग वह स्वयं प्राप्त करे।" १

अतः प्रारम्भिक अवस्था में उस ऐन्द्रिय-वासना का वैसे ही पालन-पोषण करना चाहिए जैसे नींद से भरे हुए एक बालक को सबेरे उठाने के लिए बारंबार जगाना पड़ता है। इस अवस्था में तो वह सीमा से इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसकी प्रशंसा करना तो दूर रहा, उसके रोकने का ही सतत प्रयत्न आवश्यक है।

लाखों में शायद कोई एक ही व्यक्ति ऐसा मिलेगा जो इन्द्रियों के अत्याचार से पीड़ित न हो। हमारा शरीर और मन स्वभाव से ही ऐन्द्रिय विषयों की ओर दौड़ता है। इसलिए यदि मनु उसकी प्रशंसा करते और उसे मानवों के लिए मान्य तथा उनके जीवन का लक्ष्य बतलाते तो यह उद्देश्य स्वयं भ्रष्ट

१ विष्णु भागवत।

हो जाता और अति उसे नष्ट कर देती। इसीलिए वासना का उल्लेख तो है परंतु चेतावनियों के साथ।

मनु ने जिस युग के लिए विधान बनाए उस युग के मानव को एक व्यवस्थित समाज द्वारा अथवा उसमें रहकर ही समुचित ऐन्द्रिय सुख प्राप्त हो सकता है, क्योंकि मनुष्य की ऐन्द्रिय वासना पशु से भिन्न है। पशु को सरल वासना केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति चाहती है, किंतु मनुष्य की वासनाएँ बड़ी जटिल हैं। वासना का आधार पशु और मानव में एक ही है—अर्थात् इन्द्रियों से युक्त जड़ शरीर, परंतु अनन्त मानसिक अवस्थाओं, विचारों और वृत्तियों (आवेगों) तथा निकटवर्ती विरक्ति की धारा और व्यक्ति विशेष के अन्दर विश्वात्मा की क्रमशः जागृति से प्रभावित होने के कारण मानवों में उस वासना का रूप बहुत कुछ खुल गया और संस्कृत हो गया है। इन परिस्थितियों और प्रभावों का परिणाम यह हुआ कि ऐन्द्रिय वासना ने मोह का रूप धारण कर लिया और मनुष्य के अंदर कुटुम्ब, राष्ट्र तथा जाति का प्रेम समा गया, जिसका अर्थ है सहानुभूति। ललित कलाओं की ओर भी रुचि बढ़ने लगी, जिनकी उन्नति एक व्यवस्थित समाज में ही जिसमें लोगों के कर्तव्य और कर्म बँटे हुए हों और सबको पर्याप्त अवकाश और हर तरह के साधन उपस्थित हों, संभव है। जब तक प्रत्येक व्यक्ति को अवकाश न होगा और राष्ट्र तथा व्यक्ति के पास संचित सम्पत्ति न होगी तब तक संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति, उद्यान, उपवन, वेश-भूषा, सवारी तथा पशु-पालन की कलाओं में उन्नति नहीं हो सकती। इसीलिए अर्थ, लोक-साधन तथा सम्पत्ति पर अधिक ज़ोर दिया गया है। किन्तु इतने पर भी यदि मनुष्य की सहज स्वार्थपरता पर धर्म का शासन और

नियंत्रण न लगाया जाय, अधिकारों की कर्तव्य से रक्षा न की जाय, सम्पत्ति की उत्पत्ति और वितरण पर नियमों का नियंत्रण न हो और दूसरों की आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का परिष्कार न हो, तो वैयक्तिक और राष्ट्रीय सम्पत्ति का संचित करना ही नहीं, सामाजिक संस्थाओं का स्थापन और संगठन भी कठिन हो जाय। अतः स्मृतिकार एक नियामक की भाँति विश्वासपूर्वक काम अर्थात् इन्द्रिय-लिप्सा को अलग छोड़ देता है; क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि बिना नियम बनाए ही यह आवश्यकता से अधिक प्रचार पा जायगी। वह केवल स्वास्थ्य और स्वच्छता-संबंधी कुछ थोड़े से ऐसे नियम बना देता है जो शरीर तथा उसके अंगों को उच्च श्रेणी के ऐन्द्रिय सुखों का भोग कर सकने के योग्य बनाए रखने में समर्थ हैं। वह (स्मृतिकार) अर्थ की ओर विशेष ध्यान देता है और ऐसे नियम बना देता है कि सामाजिक श्रम बँट जाता है और सारी सम्पत्ति कुछ ऐसे वर्गों के हाथों में आती है जिससे सभी अपनी आवश्यकता के अनुसार उसका उपभोग कर सकते हैं। धर्म के सम्बन्ध में नियम बनाते समय उसने अपनी पूरी शक्ति लगा दी है। पग-पग पर वह अर्थ और काम के साथ उसका संबंध मिलाता चलता है और किसी भी धर्म का उल्लंघन करनेवालों के लिए दण्ड-विधान का सविस्तार वर्णन करते हुए वह धर्म-पालन पर सबसे अधिक ज़ोर देता है। धर्म वह है जो मनुष्य को मान और महत्ता (श्रेष्ठता) की उच्च सीमा पर उठा देता है। धर्म प्रत्येक मानव के कर्तव्य का वह क्रम और जाल है जो मनु की समस्त संतानों को मिलाकर दृढ़तापूर्वक एक बनाए रखता है और उसको पृथक्-पृथक् होकर गिरने और नष्ट होने से बचाता है। धर्म, अर्थ और काम—यह सभी—जीवन वृक्ष का फल है।

यही आत्मा के शरीरधारी होने पर उसके लक्ष्य की पूर्ति है। धर्म के बिना अर्थ और काम निश्चय ही असम्भव हैं। धर्म से ऊसर चट्टान से भी धन और सुख की प्राप्ति होती है। सदाचार और दृढ़तापूर्वक अपने धर्म का पालन करने से अर्थ और काम की उत्पत्ति अवश्य होती है। धर्म से इस लोक और परलोक में सुख मिलता है।

महाभारत के पूर्व महर्षि व्यास ने कितनी ही बार कहा—"मैं दोनों भुजाएँ उठाकर कहता हूँ पर कोई ध्यान नहीं देता। धर्म से काम और अर्थ दोनों ही की उत्पत्ति होती है; तब तुम धर्म का अनुसरण क्यों नहीं करते?" किंतु किसी ने उनकी आवाज़ पर ध्यान न दिया और परिणाम यह हुआ कि जिस सुख और सम्पत्ति के लिए उन योद्धाओं ने युद्ध किया वह उस रक्त के सागर में डूब गया और भविष्य के लिए यह एक भयानक दृष्टान्त बन गया। विज्ञान और कला की महत्ता, युद्ध-कुशलता, वीरता और श्रेष्ठतम सभ्यता की सारी विभूति बिना धर्म के आधार के मिट्टी है। इतना ही नहीं, अंत में ये ही उसके विनाश में बारूद का काम करते हैं। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर हम देखते हैं कि प्रत्येक शासन-संबंधी प्रश्न विश्लेषण किए जाने पर चरित्र तथा नीति-शास्त्र तक पहुँचता हुआ दिखाई देता है।

अतः जीवन के सांसारिक अर्द्धभाग के लिए तीन लक्ष्यों की व्यवस्था की गई है—धर्म, अर्थ और काम। धर्म—इसलिए कि इसी से स्थायी अर्थ की प्राप्ति होती है; अर्थ—इसलिए कि इसी से श्रेष्ठ सुख और (काम) वासना की पूर्ति होती है, और काम—इसलिए कि इसके अभाव में अर्थ एक बोझ और असह्य भार-रूप है। इसी प्रकार अर्थ के अभाव में धर्म भी निरर्थक है।

"ऐसे अर्थ और काम को छोड़ दो जो धर्म के विरुद्ध हो और उस धर्म को भी त्याग दो, उसे धर्म भी न मानो जो साधारण जनता का विरोधी तथा उसके लिए दुःख-दायक हो और आगे चलकर भी उससे सुख की प्राप्ति न हो।"१

जीवन के पूर्वार्द्ध के तीन लक्ष्यों को पूर्ण रूप से समाप्त करके मनु ने उत्तरार्द्ध का लक्ष्य मोक्ष बतलाया है।

"तीन ऋणों को चुकता कर देने के बाद मनुष्य को मोक्ष की ओर ध्यान देना चाहिए। उनको पूरी तौर से चुकाए बिना उसे मोक्ष की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। अगर वह असमय ही (विना इन ऋणों से उऋण हुए) ऊपर उठने का प्रयत्न करेगा, तो वह पदार्थ में और भी अधिक फँस जायगा।" १

जो बिना समझे बूझे ही मानवीय बंधनों को तोड़ देता है उसे ऋषियों के पास पहुँचने की आशा न करनी चाहिए। जिस प्रकार प्रवृत्ति-मार्ग में धर्म, अर्थ और काम एक दूसरे पर आश्रित हैं उसी प्रकार एक ओर ये तीनों एक साथ मिल-कर, और दूसरी ओर निवृत्ति मार्ग का लक्ष्य—मोक्ष—एक दूसरे पर आश्रित हैं।

जिस प्रकार जीवन-वृत्त के दोनों अर्द्धभाग एक दूसरे के बिना निरर्थक हैं, उसी प्रकार उनके लक्ष्य भी पृथक्-पृथक् निरर्थक और एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। एक का पालन किए बिना दूसरे को पाने का उद्योग करना, या पहले की उपेक्षा करके दूसरे को पाने का प्रयत्न करना एक समान ही व्यर्थ है। प्रवृत्ति के बाद ही निवृत्ति सम्भव है। नीचे

१ मनु ४, १७६

की वस्तुओं का त्याग करने के बाद ही ऊँचे लक्ष्य तक पहुँचने की सम्भावना है। १

प्रवृत्ति मार्ग में इच्छा एक बहुत अच्छी वस्तु है। बिना इच्छा के उन्नति नहीं हो सकती। इच्छा के अभाव में आलस्य और तंद्रा का राज्य रहता है। इस जड़ संसार में इच्छा का तमोगुण से विशेष रूप से पारस्परिक संबंध है।

चिद् की भाँति गुणों के भी श्रेष्ठ और निकृष्ट रूप होते हैं। निकृष्ट रूप तमोगुण है जिसमें आलस्य और निस्तब्धता है, और शान्ति, स्थिरता और समता श्रेष्ठ रूप हैं। जड़ पदार्थों की अचरता परमात्मा की अस्थिर शान्ति के समान है। जड़ पदार्थों में श्रेष्ठ और निकृष्ट ध्रुव भी होते हैं। श्रेष्ठ के भीतर पूर्ण स्थिरता होती है और निकृष्ट में गतिहीन अचरता। पूर्वकथित मार्ग में जड़ता को पराजित करना आवश्यक है और उसे पराजित करने के लिए चेतना के अंदर वाञ्छनीय और घृणित वस्तुओं के प्रति अनुराग अथच विराग उत्पन्न करना पड़ता है। इच्छा जागती है और आलस्य को दूर करती है, साथ ही एक तीव्र उत्कंठा उन समस्त बाधाओं को दूर कर देती है जो पदार्थों की जड़ता के कारण उसके मार्ग में पैदा हो जाती हैं। इच्छा की इस निकृष्टता को भी जल्दी नहीं छोड़ देना चाहिए, क्योंकि इससे उन्नति रुक जाती है। यदि यह बहुत जल्दी छोड़ दी जाती है तो तमोगुण फिर अपना आधिपत्य जमा लेता है और कर्मशीलता के स्थान पर आलस्य आ घेरती है। सांसारिक मनुष्यों को इच्छाओं से परिपूर्ण होना ही चाहिए, और इसी प्रकार चेतना के अन्य रूपों से भी उसको पूर्ण होना आवश्यक है।

१ Science of Social organisation डा० भगवानदास कृत प्रथम अध्याय।

यह बहुत ही अच्छा है कि ज्ञान (बुद्धि, जिसके द्वारा एकत्व का ज्ञान होता है) विज्ञान (विवेक, जिसके द्वारा पृथकत्व का ज्ञान होता है) का रूप धारण कर लेता है। एकत्व का ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व पृथकता अथवा अनेकत्व का अनुभव करना आवश्यक है और जब तक चेतना को अनेकत्व का रूप पूर्णतया प्रतिभासित नहीं हो जाता तब तक अनेकत्व के सत्य रूप अर्थात् एकत्व का ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। जितनी ही पूर्णता के साथ चेतना सांसारिक वस्तुओं के अनेकत्व के वर्गीकरण और भेदभाव का अध्ययन करेगी उतनी ही पूर्णता के साथ उसको ज्ञान की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार विज्ञान में, जो ज्ञान का निकृष्ट रूप अथवा निकृष्ट ध्रुव है, उस अनेकत्व का जब तक हमें ज्ञान न होगा हम एकत्व का अनुभव नहीं कर सकते। विभिन्नता अथवा अनेकता जब तक चित् में असत्यता का बोध उत्पन्न नहीं करती तब तक एकता का बोध नहीं हो सकता। हवा यदि हमारे चारों ओर रहती हुई भी गतिहीन हो तो हमको उसके अस्तित्व का पता नहीं लग सकता। उसके गतिमय होने पर ही हमें ज्ञात होता है कि हम वातावरण के सागर से घिरे हुए हैं। रंग यदि केवल एक हो तो उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता, क्योंकि कोई दूसरा रंग दिखाई न पड़ने पर रंग का भाव ही पैदा न होगा। जब भिन्न प्रकार के रंग दिखाई देते हैं तभी उनका ऐन्द्रिय ज्ञान (भाव) पैदा होता है। दुःख के अभाव में सुख का अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि जब सुख दुःख में बदलता है अथवा दुःख सुख में परिवर्तित होता है तभी हमको एक से दूसरे का ज्ञान होता है और तभी दोनों से परे होने की संभावना भी हो सकती है। इसीलिए इस वैज्ञानिक अवस्था-ज्ञान के निकृष्ट ध्रुव, बुद्धि का होना अत्यंत आवश्यक है और प्रवृत्ति मार्ग पर चलकर इस

अवस्था का जितनी पूर्णता के साथ विकास किया जायगा उतनी ही पूर्णता के साथ चेतना भावी महान् परिवर्तन के लिए प्रस्तुत हो सकेगी।

चित् की तीसरी वृत्ति—क्रिया—का भी इस प्रकार विकास होना चाहिए कि प्रत्येक दिशा में उसकी प्रेरणा हो—वह इच्छाओं को जाग्रत् करे, मन को क्षुब्ध बना दे, शरीर को विकल कर दे और अनवरत वेग और क्षोभ से सभी ओर प्रधावित हो। क्रिया में वेग-चक्र (बवंडर) तथा विकलता होने का अर्थ है उसका विकास। यदि तुमको किसी वस्तु को नियमित बनाना है तो नियमित बनाने का कार्य आरंभ करने के लिए काफ़ी समय भी है। जहाँ शक्ति नहीं है वहाँ कोई उपयोगी शासन हो ही नहीं सकता; क्योंकि शासन होगा किसका? शक्ति के लक्षण और गुण मनुष्यों में जितने ही तीव्र होंगे उतना ही उसके लिए सफलता की आशा अधिक है।

जो मनुष्य क्षण-क्षण में सो जाता है उसमें उच्चतर मार्ग पर चढ़ने के कठिन परिश्रम करने की शक्ति कहाँ है? ईश्वर इस अशांति और उपद्रव का ढाँचा ही क्यों रचता, यदि ये लक्ष्य-प्राप्ति के साधन न होते! क्योंकि यह विश्व तो प्रेम और बुद्धि के सहारे चलता है। एक दिन जो बड़ी उत्सुकता से प्रवृत्ति मार्ग पर चलते रहे हैं उन्हीं में से हमें निवृत्ति मार्ग के अग्र-गण्य और सच्चे पथिक मिलते हैं। संसार में आकर वस्तुओं को अपनाना, उनका भोग करना, उन्हें अपने अधिकार में रखना उचित है और प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए जीवों के लिए ये बहुमूल्य प्रयत्न हैं। इन्हीं से चेतना व्यक्त होती है, इन्हीं से शरीर का विकास होता है, इन्हीं से व्यवस्था निर्धारित होती है, इन्हीं से रथों (शरीरों) की रचना होती है अर्थात् इन्हीं से उन सभी वस्तुओं की प्राप्ति होती है जिनकी

जीवात्मा को आगे चलकर अपने कार्यों के लिए आवश्यकता पड़ती है। यदि हम आधुनिकता का एक अत्यंत अप्रिय उदाहरण उस आदमी को भी ले लें जिसने असंख्य घरों को बरबाद कर, असंख्य कुटुम्बों को दरिद्र बनाकर, करोड़ों की सम्पत्ति एकत्रित कर ली है, तो भी हम देखेंगे कि उस आदमी ने अपनी इच्छा-शक्ति बढ़ा ली है, वह मन को एकाग्र कर सकता है, उसमें परिश्रम करने की वह शक्ति है जिसमें थकावट का नाम नहीं। उसका उद्देश्य चाहे कितना ही तुच्छ क्यों न हो वह परिश्रम करने के समय आराम की इच्छा नहीं करता। कुछ भी हो, अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसने ऐसे गुणों का विकास कर लिया है कि जिस दिन वह अपने दुर्लक्ष्य को त्याग कर किसी सदुद्देश्य में लग जायगा, वे ही गुण उसे एक प्रबल शक्ति प्रदान करेंगे।

अब यह देखना चाहिए कि यह परिवर्तन होता कैसे है? गीता में श्रीकृष्ण ने उन लोगों का वर्णन किया है जो फल की कामना से पूजा करते हैं। ऐसी पूजा से मनुष्य की आत्मा के भीतर एक नई रुझान पैदा हो जाती है और चाहे हम सकाम पूजा को कोई ऊँची वस्तु न मानें पर मनुष्य तो मनुष्य ही है, वह वैसा नहीं है जैसा कि हम उसके आदर्श रूप की कल्पना करते हैं। तीन द्विजातियाँ, जिनका बहुधा ज़िक्र आता है, क्रमशः मनुष्य-स्वभाव के एक विशेष रूप का प्रतीक उपस्थित करती हैं। जिस मानव-अवस्था का हम विचार कर रहे हैं, उसमें मनुष्य इच्छा द्वारा प्रेरित होता है, और उसकी इच्छा भी प्रत्येक जाति की विशेष चेतना-शक्ति के अनुरूप होती है। वैश्यों में इच्छा (लालसा) प्रधान है, अतः उनके सब कर्म इच्छित वस्तुओं के संग्रह करने की लालसा को धर्म मानकर प्रेरित होते हैं। क्षत्रियों में क्रिया प्रधान है,

अतः उनके सभी कार्य दीप्ति, ऐश्वर्य और शक्ति-प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होते हैं। ब्राह्मणों में ज्ञान प्रधान है, अतः उनके सभी कार्य स्वर्ग प्राप्त करने, स्वर्ग-सुख भोगने की इच्छा से प्रेरित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जाति में कर्म इच्छा द्वारा प्रेरित होता है और इसके लिए बहिर्मुखी सम्प्रदाय में पूजा की व्यवस्था की गई है। गीता के दूसरे अध्याय में लिखा है—

"आत्मा की लालसा तथा स्वर्ग की कामना से वे जन्म को कर्म-फल मानते हैं और सुख तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अनेक क्रियाओं का निरूपण करते हैं।" (४३)

ये ही क्रियाएँ हैं जो ऐश्वर्य, प्रभुता और सुख की प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर की जाती हैं और जिनके करने से क्षत्रिय का जन्म होता है, जिस अवस्था में अर्थ और काम की प्राप्ति नियमानुकूल है और धर्मानुसरण साथ-साथ चलता है। ब्राह्मणों के लिए कहा गया है—

"वेदत्रयी अर्थात् तीन वेदों को जाननेवाले, सोमपायी, पापरहित (व्यक्ति) यज्ञ द्वारा मेरी पूजा करके मुझसे स्वर्ग-मार्ग की कामना करते हैं। वे पवित्र देवलोक स्वर्ग में पहुँचकर दिव्य देव-भोगों का भोग करते हैं।" इसी प्रकार वैश्य भी हैं जो अपने कार्य में सफलता चाहते हैं। उनके लिए कहा गया है—

"जो इस लोक में कर्म की सफलता चाहते हैं वे देवताओं का यजन करते हैं; क्योंकि इस मनुष्य-लोक में सिद्धि कर्म से ही उत्पन्न होती है।" (गी० चतु० १२)। यज्ञ अवश्य करना चाहिए, भौतिक पदार्थों की इच्छा का दमन और उनकी बलि अवश्य चढ़ना चाहिए, जिससे सूक्ष्म सुख का अनुभव किया जा सके। भौतिक सुख, ऐश्वर्य और प्रभुता के लिए क्षत्रिय क

यज्ञ करना तथा विधियों का पालन करना आवश्यक है और इस प्रकार उसके ऊपर कुछ आंशिक संयम लाद दिए जाते हैं। जब तक वह तमाम ऐश्वर्य और प्रभुता का भोग करता है, यही संयम धीरे-धीरे उसको अभ्यस्त बना देता है और स्वार्थ से दूर रखता है। अंत में एक दिन वह उनसे छुक जाता है। इसी प्रकार अपने कर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए वैश्यों को भी कुछ धन त्याग देना आवश्यक है और इसके लिए उनको देवताओं के प्रति यज्ञ करने की आज्ञा है। इस यज्ञ करने में जो परार्थ की भावना है वही उनको उस स्वार्थ से अलग करती है जिससे प्रेरित होकर वे कार्य करते हैं। इन सब विधानों में कितनी बुद्धिमानी भरी है! कोई जल्दी नहीं है, समय पर्याप्त मात्रा में है, इच्छाओं को बढ़ने और फैलने दो; इनसे मनुष्य को शक्ति प्राप्त होगी। यज्ञ और विधियों के सिद्धांत से उनका संयम भी होना चाहिए। फिर भी उनको ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने दो; उनके लिए उचित प्रोत्साहन मिलने दो कि इन यज्ञ तथा विधियों से अंत में सांसारिक सुखों के स्थान पर स्वर्गीय सुखों की, छोटी मोटी प्रभुता के स्थान पर विशाल ऐश्वर्यों की, संकुचित साधनों के स्थान पर महान् सम्पत्ति की प्राप्ति होगी। इस प्रोत्साहन को तभी तक रक्खा जाता है जब तक इसकी आवश्यकता होती है और फिर यज्ञ-विधान और त्याग के विधान से धीरे-धीरे इनको रोका जाता है, संयत किया जाता है, अपने अधिकार में लाया जाता है। यह क्रम एक जीवन से दूसरे जीवन तक चलता रहता है और आत्मा लगातार बाहर दौड़ते-दौड़ते—अर्थात् भौतिक जगत् में इच्छा-पूर्ति के लिए दौड़ते-दौड़ते—ऊब जाती है और तब प्रत्येक वस्तु अनित्य, नीरस और सारहीन जान पड़ती है; हृदय को भग्न करने-

वाली निराशाएँ आती हैं, आपत्तियाँ आती हैं, असफलताएँ होती हैं। जो मनुष्य शक्ति और ऐश्वर्य की इच्छा करता था वह उन्हें प्राप्त करके उन्हें भार-रूप पाता है; जो विद्या प्राप्त करना चाहता था वह विद्या पाकर देखता है कि उसका हृदय शून्य है; इसी प्रकार वह मनुष्य जो सफलता प्राप्त करने के लिए पूरी शक्ति लगा देता है, सफलता प्राप्त करने पर देखता है कि उसकी सफलता उसी के लिए जंजाल हो जाती है। इस प्रकार आत्मा धीरे-धीरे भीतर-ही-भीतर विकसित होकर अनुभव करने लगती है कि ये सभी पदार्थ उसे संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। स्वाद वह तभी तक लेता है जब तक उससे चिढ़ नहीं हुई; भोग वह तभी तक करता है जब तक कि भोग से तृप्ति नहीं हुई; विद्या भी उसने तभी तक प्राप्त की जब तक ज्ञान का बोझ और उसकी अनंत शाखा-प्रशाखाएँ उसे भार नहीं मालूम हुईं। आत्मा बार-बार के अनुभव से ऊब जाती है और यहीं परिवर्तन होता है। इस समय अरुचि से एक क्षणिक अनिच्छा पैदा होती है। यह वह सच्चा वैराग्य नहीं है जो ज्ञान का फल है, वरन् यह तो एक तात्कालिक अथवा क्षणिक वैराग्य है, जो निराशा के कारण उत्पन्न हो जाया करता है। उस क्षण में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों के संगम पर, जीवन की लंबी यात्रा के उस परिवर्तन-मार्ग पर पथिक जीवात्मा श्रांति (थकावट) से विकल हो जाता है, उस विकलता से चित्त में एक सूक्ष्म परिवर्तन होता है और आत्मा निकृष्ट ध्रुव को छोड़कर उत्कृष्ट ध्रुव की ओर अभिमुख होती है। गीता में लिखा है—

"आत्म-स्वरूप को देखकर विषयानुराग भी उससे दूर हो जाता है" (गी० २·५९)। प्रत्येक मनुष्य इस समय भी अपने विशेष गुण बनाए रखता है अस्तु जिस मार्ग पर वह चलता है

उसमें परिवर्तन हो जाने के कारण वे ही विशेष गुण एक उच्चतर रूप धारण कर लेते हैं और धीरे-धीरे रूपान्तरित हो जाते हैं। मानव-जीवन की तीन विशेष अवस्थाओं में से प्रत्येक अपने ध्येय को बदल देती है। चित्त की प्रवृत्ति बदल जाने से इच्छा और वासना, जिसका निकृष्ट रूप 'काम' है, अपने श्रेष्ठ रूप, भक्ति में बदल जाती है अर्थात् आत्मस्वरूप परमात्मा को जानने की इच्छा होने लगती है। विज्ञान जो बाह्य पदार्थों में विभिन्नता और अनेकत्व का बोध कराने वाला है अपने श्रेष्ठ रूप ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है जो अद्वैत का ज्ञाता है। क्रिया जो अपने निकृष्ट रूप में ध्येय-प्राप्ति के लिए कर्म-शृङ्खला मात्र है, अपना श्रेष्ठ रूप धारण करके यज्ञ का रूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार निवृत्ति मार्ग में तीन विशेषताओं ने अपने नाम अवश्य बदल लिये हैं, पर अपने गुणों को नहीं छोड़ा और वे ही अब भक्ति, ज्ञान और यज्ञ कहलाती हैं। ये ही चित्त की तीन वृत्तियों के उच्चतर रूप हैं, उत्कृष्टतर भ्रव हैं और इन्हीं के लिए गीता में श्रीकृष्णजी कहते हैं कि इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर "कोई ध्यान करके आत्मा द्वारा, आत्मा में आत्मा को देखता है" अर्थात् भक्तिमार्ग द्वारा; "कोई सांख्य योग द्वारा"—अर्थात् ज्ञानमार्ग द्वारा; और "कोई कर्मयोग द्वारा" अर्थात् यज्ञमार्ग द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करता है।

तृतीय अध्याय

कार्य-कारण-वाद और पुनर्जन्म

प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रतिपादित जीवन के तत्व को समझने तथा प्रस्तुत विषय पर पूर्ण प्रकाश डालने के लिए एक दूसरे मूल सिद्धांत का भी हमको ध्यान रखना पड़ेगा। यह कार्य-कारण वाद है जिसे साधारणतः कर्म भी कहते हैं। मानव-जीवन स्वतंत्र नहीं है। व्यक्ति-विशेष के निरंतर शृंखलाबद्ध अस्तित्व के संपूर्ण जीवनों में, यह जीवन भूतपूर्व जीवनों का संतान-रूप अथवा कार्य है और परवर्ती जीवनों का पिता-रूप अथवा कारण है।

अकारण अथवा आकस्मिक संयोग नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्रत्येक घटना किसी पूर्ववर्ती कारण और अंत में होने वाले फल से सम्बद्ध है। प्रत्येक विचार, कार्य और घटना भूतपूर्व घटनाओं से कार्यरूप से सम्बद्ध हैं और परवर्ती घटनाओं के कारण हैं।

हिन्दू धर्म में कर्मवाद

कर्म शब्द का वाच्यार्थ है क्रिया। क्रिया स्वभावतः त्रिविध होती है—उसका संबंध कुछ भूतकाल से होता है और कुछ भविष्य से। अस्तु उसका अर्थ हो गया है घटना-क्रम, कार्य-कारणों का सिद्धांत अथवा एक क्रम जिसमें प्रत्येक कार्य अपने कारण का अनुगामी है। कर्म शब्द केवल क्रिया का बोधक है। परंतु उससे हमें याद रखना चाहिए कि किसी कर्म का परिणाम वास्तव में कोई पृथक् वस्तु नहीं है, वरन् व्यापक कर्म का ही एक भाग है और उससे अलग नहीं किया जा

सकता। परिणाम या फल कर्म का वह भाग है जो भविष्य के हाथ में है और उतना ही आवश्यक भाग है जितना कि कर्म का वह भाग जो वर्तमान में चलता रहता है। जैसे दुःख किसी अनुचित कार्य का फल नहीं है, वरन् उसी कार्य का एक भाग है। हाँ यह संभव है कि उसका अनुभव देर में हो। जिस प्रकार कभी कभी युद्ध में घायल हुए सिपाही को जोश में होने के कारण अपने कष्टों का ध्यान नहीं होता उसी प्रकार एक आदमी पाप करता है और उस समय दुःख का अनुभव नहीं करता, किन्तु आगे चलकर उसे दुःख का भोग करना ही पड़ता है। गर्मी आग से अलग नहीं है, पर साधारणतः लोग यह समझते हैं कि आग से वह पैदा होती है। इसी प्रकार दुःख या दर्द, घाव से अलग नहीं है, वरन् उसके साथ ही साथ है।

इस प्रकार सभी वस्तुएँ एक दूसरे से ऐसी घुली-मिली और गुथी हुई हैं कि वे अलग नहीं की जा सकतीं। कोई ऐसी घटना नहीं है जो भूत और भविष्य से सम्बद्ध न हो।

"इस संसार में कारणरहित कार्य कैसे होगा ?"

(देवी भा १. ५. ७४)

इस प्रकार जीवात्मा एक नियम-बद्ध क्षेत्र में आती है और उसको अपने सब काम नियमानुसार करने पड़ते हैं। जब तक वह नियम तथा उसकी शाखाओं को, जिन्हें प्राकृतिक नियम कहते हैं, नहीं जानती वह पराधीन है; प्राकृतिक शक्तियों के थपेड़े उसे जिधर चाहते हैं, फेंकते हैं और जैसे चाहते हैं बहाते हैं; परंतु जब वह उनको जान लेती है तब उनका प्रयोग अपने उद्देश्य के अनुसार कर सकने में समर्थ होती है। जैसे एक बिना डाँड़ पतवार और पाल की नाव आँधी और बहाव में बही चली जाती है और मल्लाह इन शक्तियों

से घिरकर असहाय की भाँति बहा जाता है, वह नाव को न तो रोक ही सकता है न मोड़ ही सकता है; और एक दूसरा चतुर मल्लाह जिसके पास डाँड़, पतवार सब है अपनी नाव को पतवार के बल पर जिधर चाहे उस ओर ले जा सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि दूसरे ने आँधी-पानी को बदल दिया, वरन् वह उनके रुख को जानता था और अनुकूल शक्तियों का प्रयोग करके प्रतिकूल को सरल ही में निष्फल कर सकता था। इसी प्रकार एक मनुष्य जो प्रकृति के नियमों से परिचित है उन नियमों से लाभ उठा सकता है जो उसके अनुकूल हों और जो उसके प्रतिकूल हों उनका विरोध कर सकता है। अतः ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। ज्ञानहीन सदा पराधीन या गुलाम रहता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृतिक नियम कोई आदेश नहीं है कि इस प्रकार कार्य करो, वरन् वे तो उन स्थितियों के विवरण मात्र हैं जिनके भीतर रहकर कोई कार्य किया जा सकता है। यदि दबाव साधारण हो तो १०० डिग्री ताप क्रम पर पानी उबलने लगता है—यह एक प्राकृतिक नियम है। यह नियम किसी को पानी उबालने की आज्ञा नहीं देता, वरन् उस अवस्था का ज्ञान कराता है जिस पर पहुँचने पर सौ डिग्री सेन्टीग्रेड पर पानी उबलने लगता है। यदि कोई उस तापक्रम पर उबलता पानी चाहता है तो उसके लिए ऊपर लिखी स्थिति को तैयार करना आवश्यक है। यदि वह किसी ऊँचे पर्वत पर है जहाँ दबाव साधारण से बहुत कम है तो उसका पानी इतने कम तापक्रम पर उबलने लगेगा जितना खाना पकाने के लिए पर्याप्त नहीं है। परंतु इस नियम ने उसकी क्या सहायता कर दी? इससे लाभ इतना ही होता है कि १०० तापक्रम पर उबलता हुआ पानी पाने के लिए स्थिति तैयार करने में सहायता मिलती

है। पानी ढक देने पर हवा के दबाव में भाप का वज़न जुड़ता जाता है और बढ़ते-बढ़ते जब दबाव साधारण तक पहुँच जाता है तब पानी सौ डिग्री पर खौलने लगता है और खाना आसानी से पक जाता है। इसी प्रकार दूसरे प्राकृतिक नियम भी हैं। अपनी इच्छा के अनुसार फल-प्राप्ति के लिए स्थितियों में कुछ परिवर्तन कर देना होता है और एक बार स्थिति अनुकूल होने पर उसका फल नियमानुसार होगा ही। अस्तु, नियम किसी विशेष कार्य के लिए दबाव नहीं डालते, वरन् कार्यों को सुगम और संभव बनाते हैं। नियमों का ज्ञान एक शक्ति बन जाता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, जीवात्मा की तीन वृत्तियाँ हैं—इच्छा, ज्ञान और कर्म। ये ही उपाधियों के निम्नतर जगत् में कामना और कर्म के रूप में प्रकट होती हैं और ये ही मनुष्य के कर्म की बनानेवाली हैं। इनमें से प्रत्येक अपने एक निश्चित सिद्धान्त के अनुसार कार्य करती है।

कामना विचार के पीछे रहती है और उसको उत्तेजित और प्रेरित करती रहती है। कामना से शक्ति-सम्पन्न तथा स्थिर विचार कर्म के पीछे रहता है और इसी (कर्म) के द्वारा विषय-जगत् में अपने को व्यक्त करता है।

"मनुष्य निश्चय कामना से बना है। जैसी उसकी कामना होती है वैसे उसके विचार होते हैं और जैसे विचार होते हैं, वैसे वह कर्म करता है। जैसा वह कर्म करता है वैसा फल पाता है।" [बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.५]

इसी श्लोक पर टीका करते हुए शंकर ने कहा है कि कामना जगत् का मूल है।

अतः हमको तीन नियमों का अध्ययन करना है जो एक साथ मिला दिए जाने पर कर्म-सिद्धांत की सृष्टि करते हैं।

इसके पश्चात् हम उन परिस्तिथों को जानने का प्रयत्न करेंगे, जिनमें घटनाएँ आविर्भूत होती हैं और इस प्रकार हम अपने मनोनीत फल के अनुसार अपने अदृष्ट का निर्माण कर सकेंगे।

प्रथम नियम है : कामना मनुष्य को उस स्थल पर ले जाती है जहाँ पर इच्छित वस्तु का अस्तित्व होता है और इस प्रकार उसके भावी कर्म का मार्ग स्थिर हो जाता है। ऋषियों का वचन है:—

"अतः कामना से ग्रसित पुरुष कर्म द्वारा उस वस्तु के पास पहुँचता है जिसमें उसका मन लीन रहता है।"

कामना से मनुष्य का इच्छित वस्तु के साथ एक दृढ़ संबंध स्थापित हो जाता है और वह एक अविच्छिन्न श्रृंखला (ज़ंजीर) से जकड़ जाता है। वस्तु कोई भी क्यों न हो यदि मनुष्य उसको चाहता है तो वह मनुष्य को अपनी ओर खींच ले जायगी। अभिलषित वस्तु को फल कहते हैं और जिस फल की मनुष्य कामना करता है उसका भोग अवश्य किया जायगा, चाहे जैसी जगह में मिले। भगवद्गीता में लिखा है:—

"मनुष्य कामना से प्रेरित होकर फल में आसक्त होने के कारण बँधा रहता है।"

फल अच्छा हो या बुरा, सुखमय हो अथवा दुःखमय; नियम सबके लिए एक ही है। जब तक मनुष्य को फल की लालसा होती है तब तक वह उसकी आसक्ति से बँधा रहता है और जैसा सुखमय अथवा दुःखमय फल होता है उसी के अनुसार उसके कर्म अच्छे या बुरे कहलाते हैं। एक मनुष्य जब इस नियम को समझ जाता है तब वह अपनी कामनाओं को उन्हीं विषयों की ओर आसक्त होने देगा जिनकी प्राप्ति से सुख मिल सकता है। इसके बाद दूसरे जन्म में उसको उनके पाने का अवसर मिलेगा क्योंकि वे ही विषय उसके मार्ग में पड़ेंगे।

कामना की प्रकृति का यह पहला नियम है।

दूसरा नियम मस्तिष्क से संबंध रखता है। मस्तिष्क में रचनात्मक शक्ति है और एक आदमी जैसा विचार करता है वैसा ही होता है। छान्दोग्योपनिषद् (३०-१४) में लिखा हैः—

"निश्चित रूप से मनुष्य विचार से बनता है। इस लोक में एक मनुष्य के जैसे विचार होते हैं, उन्हीं के अनुसार यहाँ से जाने के बाद वह हो जाता है।"

जैसे ब्रह्मा ने ध्यान द्वारा सृष्टि की रचना की, उसी प्रकार मनुष्य के भीतर ब्रह्म को छाया-रूप मन के लिए सृष्टि-रचना आवश्यक कर्म है। ब्रह्मा क्रिया की मूर्ति हैं लेकिन हम देखते हैं कि ध्यान (विचार) ही क्रिया थी और उसीसे अनेक लोकों की रचना हुई। अतः कर्म केवल विचार है जो हमारे शरीर से किसी वस्तु के रूप में उत्पन्न होता है और एक मनुष्य का कर्म उसके पूर्व विचारों का जीता-जागता रूप है। जैसे ब्रह्मा ने अपने लोकों की रचना की उसी प्रकार मन विचार द्वारा ही अपने वाहनों की रचना करता है। मनुष्य का स्वभाव और चरित्र भी विचार के ही आधार पर बनता है। मनुष्य वास्तव में जैसा कुछ है वह उसके विचारों का ही परिणाम है। जैसे विचार इस समय उसके हैं वैसा ही आगे चलकर वह होगा। अगर उसके विचार नीच हैं तो वह नीच होगा। इस तत्व को जानकर मनुष्य अच्छे, शुद्ध और ऊपर उठानेवाले विचारों को ही मस्तिष्क में स्थान देता है और बुरे, घृणित तथा नीचे गिरनेवाले विचारों को मस्तिष्क से दूरकर अपने चरित्र का निर्माण करता है। यह मनःशक्ति का दूसरा नियम है।

तीसरे नियम का संबंध कर्म से है। परिस्थितियाँ कर्म से पैदा होती हैं। महाभारत (शांति पर्व, २०१-२३) में लिखा हैः—

"कर्मों के फल में आसक्तियुक्त, फल की इच्छा करनेवाला मनुष्य, चाहे जिस प्रकार का कार्य पूरा करता है, और जो भी अच्छे या बुरे फल भोग करता है, उन्हीं के गुणों से युक्त हो जाता है। जिस प्रकार धारा के प्रतिकूल बहनेवाली मछली को पानी के प्रतिकूल तैरना पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य को अपने विगत कर्मों से उलझना पड़ता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव-धारी को अपने शुभ कर्मों के लिए सुख और दुष्कर्मों के लिए दुःख भोगना पड़ता है।"

"बीज बिना कोई अंकुर पैदा नहीं हो सकता। जब तक वह ऐसे कर्म नहीं करता जो सुख पैदा कर सकते हैं तब तक कोई मनुष्य सुख नहीं प्राप्त कर सकता।"

जो जैसा बोता है वैसा काटता है। जो मनुष्य अपने चारों ओर प्रसन्नता छिटका रखता है वह बाद में प्रसन्नता प्राप्त भी करता है, और जो दुःख फैला रखता है उसको दुःख ही मिलता है। इस प्रकार नियम का ज्ञान प्राप्त कर, वह उसी प्रकार अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति पैदा कर सकता है, जिस प्रकार वह अच्छा या बुरा चरित्र और सुखदायक या दुःखदायक वस्तुओं को पैदा करता है। यह कर्म-संबंधी तीसरा नियम है।

इन्हीं तीन नियमों के अन्तर्गत कर्म का निर्माण होता है। जीवात्मा में संकल्प, ज्ञान और क्रिया तीनों हैं और ये ही जगत् में वासना, विचार और कर्म के नाम से प्रकट हैं। अवसर, चरित्र या सामर्थ्य और परिस्थिति ये मनुष्य के भाग्य के तीन उत्पादक हैं; इनके अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं बचता।

अस्तु, हम नित्य नये कर्म का निर्माण करते हैं और जो कुछ भूतकाल में कर चुके हैं उसका अनुभव भी करते

हैं। जिन परिस्थितियों का हमने स्वयं भूतकाल में बीजा-रोपण किया था उन्हीं परिस्थितियों में कार्य करने के लिए हम बाध्य हो जाते हैं। हमें केवल उन्हीं वस्तुओं के प्राप्त करने का अवसर मिलता है जिनकी गत जीवन में हमने इच्छा की थी, उन्हीं शक्तियों के प्रयोग करने का अवसर मिलता है जो उस समय पैदा हुई थीं तथा उन्हीं परिस्थितियों में रहने का अवसर मिलता है जो उस समय बनी थीं। परंतु जीवित जीवात्मा जो उस समय कामना, विचार और कर्म करनेवाला था, अब भी वैसा ही शक्तिशाली है जैसा पहले था और अपनी ही बनाई हुई सीमा में रहकर उसका प्रयोग भी कर सकता है, उसको सुधार भी सकता है और धीरे धीरे परिवर्तन उपस्थित करके भविष्य के लिए अच्छी स्थिति भी पैदा कर सकता है।

कर्म के संबंध में बहुधा एक कठिनाई अनुभव की जाती है। लोग पूछते हैं, यदि (पूर्व) कर्मानुसार यह निश्चित है कि मैं भला होऊँगा या बुरा, इस काम को करूँगा या न करूँगा, तो जैसा होना है वैसा होगा ही। फिर कोशिश करने की ज़रूरत ही क्या है ?'' यदि ऊपर कही हुई बातें भली भाँति समझ ली गई हैं तो इस प्रकार की विचार-धारा की भ्रांति पूरी तरह से समझ में आ जायगी, क्योंकि कर्म-सिद्धांत को अच्छी तरह न समझ सकने के कारण ही इस प्रकार की भ्रांतियाँ पैदा हो जाती हैं।

जिस प्रकार कर्म की अच्छाई या बुराई कर्म का ही एक भाग है उसी प्रकार प्रयत्नशील होना भी कर्म का ही एक भाग है। कर्म कोई स्वतंत्र और पूर्ण वस्तु नहीं है जो हमारी प्रतीक्षा कर रही हो। यह तो निरंतर चलनेवाली वस्तु है जिसमें भविष्य का निर्माण पिछले कर्मों के अनुसार तो होता ही है वर्तमान भी निरंतर उसमें हेर-फेर करता रहता है।

यदि कोई मनुष्य अच्छा होना चाहता है तो इस समय चाहे वह कितना ही खराब क्यों न हो वर्तमान स्थिति में अच्छे होने के लिए वह जो शक्ति लगा रहा है वह उसे शीघ्र ही अच्छा बना देगी। मनुष्य इतना असहाय नहीं है कि भाग्य ने उसे जैसा भला या बुरा बना दिया है वैसा ही बना रहे वरन् वह जिस प्रकार अच्छा या बुरा होने की इच्छा करता है, वैसा ही प्रतिदिन बनता जाता है। वह हमेशा प्रयत्न करता रहता है और जब तक जीवित है हमेशा प्रयत्न करता रहेगा। उसके अधिकार में केवल यही है कि एक या दूसरा—जिस मार्ग पर वह चलना चाहे, पसंद कर ले। यदि वह शांत या तटस्थ हो जाता है, तो इसका अर्थ केवल यही है कि वह चाहता है कि पिछली रुचि कार्य करे और वह उनके ही अनुसार चलना चाहता है। अकर्मण्य या उदासीन होकर वह रुचि-सत्व को छोड़ नहीं देता। वरन् कुछ न करना ही उसकी रुचि रह जाती है। एक मनुष्य को केवल इच्छा, विचार और कर्म करना है और वह अपने कर्म को जैसा चाहे बना सकता है। इसी प्रकार देवताओं ने उच्च पद प्राप्त किया है और इसी तरह दूसरे भी उन्नति कर सकते हैं। देवी भागवत में लिखा है:—

अपने कर्म से ही जीव इंद्र बन सकता है; अपने कर्म से ही ब्रह्मा का पुत्र बन सकता है। अपने ही कर्म से मनुष्य हरि का सेवक बन सकता है और जन्म से मुक्त हो सकता है।

"अपने कर्म से वह निश्चयपूर्वक पूर्णता और अमरता प्राप्त कर सकता है। अपने कर्म से वह चारों प्रकार की मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

"देवत्व, मनुष्यत्व या विश्व-साम्राज्य का अधिकार भी एक मनुष्य अपने कर्म से प्राप्त कर सकता है। वह शिवपद या गणेश पद को भी पा सकता है।"

कर्म के संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमारे भाग्य का निर्माण बाहर से नहीं होता, अपने द्वारा भीतर से ही होता है और इसीलिए उसके कर्त्ता या विधाता द्वारा उसका लगातार पुनर्निर्माण भी होता रहता है।

कर्म-सिद्धांत पर यह आक्षेप किया जाता है कि यह अंधकारपूर्ण है, यह मनुष्यों को काम करने से रोकता है और सत्कर्म के उद्गम स्थान को ही बन्द कर देता है। साधारण शब्दों में इसका अर्थ है कि यह सिद्धांत पूर्व संचित कोरे भाग्यवाद को माननेवाला है। इसके अनुसार मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप जन्म पाता है और उसके वर्तमान जीवन के सब कार्य, सुख और दुःख, आनंद और पीड़ा, सफलता और असफलता, हानि और लाभ उसके उन पूर्वकृत कर्मों पर निर्भर होते हैं जिन पर उसका कोई वश नहीं है। अतः उसे बिल्कुल ही तटस्थ हो जाना चाहिए और अपनी अथवा अपने पड़ोसी की स्थिति बदलने के लिए समय और शक्ति का अपव्यय न करना चाहिए।

इस धारणा (भावना) में सत्य का केवल एक ही अंश है अर्थात् इसमें केवल अर्द्ध-सत्य ही समझा और अनुसरण किया गया है। जब तक इस सिद्धांत के संबंध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होगा तब तक इससे दुखद और असत्य ज्ञान फैलने का डर है।

यह सत्य है कि मनुष्य की वर्तमान योग्यता और अयोग्यता उसके ही पूर्व विचारों तथा कर्मों का परिणाम है, उसके सहज गुण, शारीरिक सम्पत्ति, उसकी नैतिक तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ और क्षमताएँ उसके ही पूर्व जन्म के विचारों तथा भावनाओं के परिणाम हैं। किसान को अच्छी फसल काटने का सौभाग्य तभी प्राप्त होता है जब वह बहुत दिनों तक परिश्रम करता

है। यदि वह खेत न जोतता, बीज न बोता, सिंचाई और खाद का समुचित प्रबंध न करता तो वह अपनी मेहनत का फल भी न भोग पाता। उसने जो फल बोया था उसी को आज काट रहा है और जो आज बोवेगा उसे कल काटेगा—यह नियम निर्विवाद सिद्ध है और इसका किसी भी क्षेत्र में कोई अपवाद नहीं है। जिस प्रकार यह कहना कि एक आदमी जिसने कल बीज बोये थे वह अब नई जमीन में नए बीज नहीं बो सकता बिल्कुल ही अनुचित और निराधार है, उसी प्रकार यह कहना कि एक आदमी के लिए नई चेष्टाएँ करना अथवा नये काम करना उसके पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों के कारण बंद हो जाता है, वैसा ही अनुचित और निराधार है।

सच तो यह है कि किसी भी पूर्व कर्म से मनुष्य के स्वतंत्र संकल्प में कोई बाधा नहीं पड़ती। केवल इतना अंतर अवश्य पड़ता है कि मनुष्य जो चाहता है उसे शीघ्र बिना समय लगे नहीं पा सकता। एक अच्छे नियम का फल प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतानुसार यथासमय अवश्य मिलता है। नियम अपने ढंग से चलता रहता है। पूर्वकृत कर्मों, विचारों और भावों के फल हमारे सामने इस प्रकार आते हैं मानों हमारे अपने से चुने हुए कारणों के परिणाम हों और इसी प्रकार से अपनी कार्य-प्रणाली चुनने में भी हम पूर्ण स्वतंत्र और बन्धनों से मुक्त हैं और इसका परिणाम यथासमय अवश्य प्रकट होता है।

मनुष्य अपने पिछले ऋणों और वादों से बँधा रहता है। जैसे ही वह उनसे उऋण और मुक्त हो जाता है, उसे पूर्ण स्वतंत्रता मिल जाती है चाहे वह नए ऋण ले या न ले। जो होनहार या अनिवार्य है उस पर उसका कोई वश नहीं है, और यदि नियम का औचित्य स्वीकृत है तो उसे शिकायत करने का भी कोई कारण नहीं है। जो कर्म इस समय निर्मित

हो रहा है, वह मनुष्य के हाथ में रहता है और वह जैसा चाहे उसे बना सकता है। कार्य-कारण-वाद के अपरिवर्तनशील सिद्धांत पर भरोसा रखकर एक मनुष्य जिस कार्य को पूरा करना चाहता है उसे गंभीर और शांत भाव से कर सकता है और आगे चलकर यथासमय जल्दी या देर में उसकी सुनिर्दिष्ट चेष्टाएँ अवश्य सफल होंगी। प्रकृति के अंदर कोई चीज़ नष्ट या विफल नहीं होती। जैसा बेकन ने कहा है, प्रकृति के अनुकूल चलने से प्रकृति पर विजय प्राप्त होती है। प्रकृति से यहाँ तात्पर्य प्राकृतिक नियम से है।

यदि एक बार हमको उन नियमों का ज्ञान प्राप्त हो जाय जो हमारे जीवन और कर्म के संचालक हैं तो हम ऐसे ढंग से काम कर सकते हैं कि वे प्रतिकूल या विरोधी होने की अपेक्षा हमारे अनुकूल या दाहिने हो जायँ। जब तक किसी नियम की शर्तों का हम अक्षरशः पालन करते हैं तब तक किसी भी विभाग में क्यों न हो, हमारी सफलता पूर्ण रूप से निश्चित है।

जो बात एक व्यक्ति या व्यष्टि के लिए कही जा सकती है वह समाज या एक समष्टि के लिए भी कही जा सकती है क्योंकि व्यक्तियों से ही समाज बनता है। प्राचीन हरमीज़ का कथन है "जैसा छोटों में होता है वैसा बड़ों में भी होता है।"

किसी जाति अथवा राष्ट्र का एक सामूहिक रूप से किया हुआ कार्य प्रकृति के अंदर उतना ही सत्य है जितना एक व्यक्ति का पृथक् रूप से किया हुआ कार्य। कर्मवाद के वे ही सिद्धांत, बिना किसी विशेष अंतर के, सामूहिक तथा राष्ट्रीय कर्मों पर भी लागू होते हैं। उन्हीं सिद्धांतों से जातियों का उत्थान और पतन होता है, राष्ट्र बनते और बिगड़ते हैं। बुद्धिमान् नेताओं को इस नियम की व्यापकता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

राष्ट्रीय संकट पड़ने पर यह याद रखना हितकारी होगा कि कोई घटना या बात ऐसी नहीं हो सकती जिसके लिए हम उत्तरदायी नहीं हैं। किसी संकट का निकट कारण ज्ञात न होने पर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई घटना बिना पर्याप्त कारण के ही उपस्थित हो सकती है।

पिछले हज़ार या अधिक वर्षों से इस भारतभूमि पर कितनी ही हृदयविदारक और अपमानजनक घटनाएँ घटी हैं। देश का देश बरबाद हो गया, बहुमूल्य रत्न लुट गए और और उनसे भी मूल्यवान जीवन नष्ट हो गए। प्राचीन काल की बातें जाने दीजिए। हमी लोगों के समय में होनेवाली घटनाएँ अभी तक भूला नहीं हैं। क्या ये हृदय-विदारक घटनाएँ बिना किसी कारण या नियम के ही प्रस्तुत हो गईं ? नहीं, बिना किसी नियम या कारण के पत्ता भी नहीं हिल सकता। प्रत्येक वस्तु का एक समय और स्थान होता है। अज्ञान-वश हम निश्चय रूप से ठीक-ठीक निकटवर्ती कारणों का निरूपण न कर सकें,—यह दूसरी बात है पर इसमें तिल भर भी संदेह नहीं है कि बिना योग्यता या पात्रता के हमको अथवा हमारे देश को कुछ भी नहीं हो सकता।

हमारी ही विरक्ति, उदासीनता, देशभक्ति का अभाव, साम्प्रदायिकता, जातीय झगड़ा, पारस्परिक घृणा तथा संदेह और कलह हमारे वर्तमान और भूतकालीन अवनति के कारण हैं। जिस प्रकार अपने ही सामूहिक कार्यों के कारण हम पर दैवी न्याय का प्रकोप हुआ, बुरे कर्मों का उचित और न्याय-संगत दंड मिला, अपनी ही करनी से हमको ऐसी ऐसी मुसीबतें उठानी पड़ीं और बुरी तरह उठानी पड़ीं, उसी प्रकार फिर हम सब मिलकर एक ठीक रास्ते पर चलने का सामूहिक संकल्प कर सकते हैं और अपने पिछले कटु अनुभवों

तथा घोर पतन का निरीक्षण करते हुए बुद्धि से काम लेना सीख सकते हैं।

बौद्धमत में कर्मवाद

बौद्ध-दृष्टिकोण से कर्म-सिद्धांत ईसाइयों के इसी नियम के ठीक विपरीत है। बौद्धों का कथन है कि आदमी जैसा काटता है वैसा ही पहले बोता भी है। प्राकृतिक न्याय की अटल क्रियाशीलता पर विश्वास करता हुआ बौद्धमत बाइबिल में उठाई हुई कठिनाइयों का उत्तर इस प्रकार प्रश्नोत्तर के रूप में देता है—

प्रश्न—वह जो अंधा बच्चा पैदा हुआ किसके पाप से अंधा हुआ—अपने अथवा अपने माता-पिता के ?

उत्तर—इस आदमी ने पाप किया था, अर्थात् पूर्व जन्म में इसके आचरण ऐसे थे कि उनके फलस्वरूप इस जन्म में यह अंधा हुआ है।

श्रीमती राइस डेविडस "बुद्धिज़्म" के १२४ वें पृष्ठ पर लिखती हैं—

बौद्धमतवाले विपत्तियों का अर्थ यह नहीं लगाते कि इनके बदले में वे भविष्य में सुख के अधिकारी होंगे, वरन् वे इन्हें अपने ऊपर लदे हुए ऋणों से उऋण होना मानते हैं जो उनके ही पिछले अथवा पूर्व जन्म में किए गए दुखदायी दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप हैं।

बौद्धों के लिए संकट के अनेक रूप कोई ऐसी सम्पत्ति नहीं हैं, जिन्हें आज पहले से जमा कर देने या भुगत लेने पर आगे चल कर बदले में सुख मिलेगा। यह तो वह भारी ऋण है जो हमारे ही पूर्व या उसके भी पहले जन्म में किए हुए कुकर्मों या दुष्कर्मों का परिणाम है।

केवल कर्म सिद्धांत और उसका अनुमान पुनर्जन्म ही पूर्णतया स्वाभाविक रीति और स्वाभाविक ढंग से बता सकता है कि जीवन में जो ऊपर से देखने में अन्याय मालूम होता है, उसका कारण क्या है। एक निर्धन पैदा होता है तो दूसरा राजा, कोई लुंज है तो कोई क्रूर और कुटिल, कोई प्रतिभावान् और कोई मूर्ख है, एक उच्चकुल की भारतीय महिला होती है तो दूसरा एक नीच कुल का अँगरेज—इसका कारण क्या है? वास्तव में ये परिणाम हैं। क्या इसका कारण किसी दायित्वहीन और ससीम ईश्वर के हाथ में है अथवा जैसा कि बौद्धों का कथन है कि यह एक नियम के आधार पर स्थित?

प्रोफेसर राइस डेविड्स कहती हैं—हम शक्ति की अनश्वरता से परिचित हैं और इसलिए बौद्ध सिद्धांत को समझ सकते हैं कि मनुष्यकृत कर्मों के फल को कोई भी बाह्य-शक्ति नहीं मिटा सकती और उनका सुखद या दुखद परिणाम पूर्ण रूप से भोगना ही पड़ता है। (बुद्धिज़्म एस्० पी० सी० के० पृ० १०३—४)।

जैसे मनुष्य को फल या परिणाम भोगना पड़ता है, वैसे ही कारण को उत्पन्न करनेवाला भी मनुष्य ही है और एक बार कारण उत्पन्न करके वह कार्य या उसके फल से भाग नहीं सकता। धम्मपाद (पृ० १६५) कहता है :—एक व्यक्ति स्वयं बुराई करता है; वही स्वयं भोगता भी है। एक आदमी स्वयं बुराई से दूर रहता है और वही स्वयं शुद्ध भी हो सकता है। पुनः १२७ वें पद में मिलता है :—

आकाश में, समुद्र के बीच में और पृथ्वी के किसी भाग में कोई भी ऐसा स्थल नहीं है, जहाँ मनुष्य अपने बुरे कर्मों के परिणाम से बच सके।" इस प्रकार मनुष्य अपने भावी जीवन का निर्माता और भाग्य का स्वामी है। एडविन आरनोल्ड

अपने 'लाइट ऑव एशिया' में लिखते हैं—"तुम स्वयं दुःख भोगते हो। कोई दूसरा बाध्य नहीं करता। तुम जो जीते और मरते हो, जीवन-चक्र में निरंतर घूमते हुए दुःख और कष्ट झेलते हो उसके लिए कोई दूसरा उत्तरदायी नहीं है।" पाश्चात्य देशों ने भी इसी स्वयं सिद्ध सत्य की सैकड़ों वर्षों से घोषणा की है क्योंकि यह विचार कोई नया नहीं था। सम्राट् मारकस कोरेलियस ने एक बार कहा था—

"एक आनुषंगिक संबंध के द्वारा परवर्ती (कार्य अथवा परिणाम) अनुवर्ती (कारण) का अनुसरण करता है। यह अनुसरण गिनती की भाँति नहीं हैं, जिसमें सभी संख्याएँ स्वतंत्र और बिना किसी संगति के हैं; वरन् उनमें एक तर्क-पूर्ण पारस्परिक घनिष्टता है।"

बौद्धों के दृष्टिकोण से प्रतीत होगा कि मस्तिष्क मनुष्य के भाग्य का विधाता है। कर्म तो केवल बिचार का ही एक द्रुतगामी (तीव्र) रूप है। सारांश यह है कि साधारण से साधारण (लघुतम) विचार का भी बहुत बड़ा प्रभाव होता है और यह प्रभाव केवल विचारकर्ता पर ही नहीं वरन् सभी जीवधारियों पर पड़ता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्रेम और घृणारूपी बारूद जो मनुष्य बालकों की भाँति अज्ञान और अबिवेक से पृथ्वी पर बरसाया करता है, उसका कितना भीषण परिणाम होता होगा। साधारण बुद्धि से बिचार करने पर भी ज्ञात हो जायगा कि ऐसी आन्तरिक शक्ति उत्पन्न करने और कुशलता पूर्वक उसपर शासन करने से मनुष्य जैसा चाहे बन सकता है। इस प्रकार कर्मवाद भाग्य-वाद का ठीक विरोधी है। जो कुछ कर्म किए जा चुके हैं, कर्त्ता स्वयं उन सबको मिटा भी सकता है, और जो कुछ आगे होनेवाला है वह वर्तमान काल में हो रहे कार्यों पर

निर्भर है । यहाँ कोई भयानक ईश्वरीय प्रकोप नहीं है, जो कुछ है इसी सर्वव्यापी नियम का पूर्ण और धीरे-धीरे व्यक्त होनेवाला परिणाम है ।

हमको याद रखना चाहिए कि चाहे पड़ोसियों को धोखा दे लिया जाय पर इस नियम को धोखा नहीं दिया जा सकता। महात्मा बुद्ध इसी नियम की व्याख्या करते हैं, जब वे कहते हैं कि "जब हम कोई अनुचित कार्य या अन्याय करते हैं तो हम दुःख से इसी प्रकार नहीं बच सकते जैसे अपनी परछाईं से छुटकारा पाना असंभव है।" इसी प्रकार जब उन्होंने कहा है कि—"जिस प्रकार ढोल और नगाड़ा पीटने से ध्वनि निकलती ही है, इसी प्रकार अनुचित कार्य करनेवाले को दुःख भोगना ही पड़ता है—तब भी वे इसी नियम की व्याख्या करते हैं। उन्होंने बतलाया है कि इस नियम का—जिसे कर्मवाद कहते हैं—निवारण नहीं हो सकता, यह सर्वकालीन है और हमारे कर्मों की प्रतीक्षा किया करता है। हमारी अदालतों और कचहरियों में अमीर आदमी ग़रीबों की अपेक्षा आसानी से रिहाई पा जाते हैं, लेकिन कर्म के दरबार में ग़रीब और अमीर का कोई भेद नहीं है। हर एक को अपने किए का समुचित फल भोगना ही पड़ता है। जो जैसा बीज बोता है वैसी फसल काटता है।

बौद्ध मत पर जो अनेक आक्षेप किए गए हैं उनमें से एक यह भी है कि यह शक्ति को निष्क्रिय बना देता है और मनुष्य को कर्म करने की शिक्षा नहीं देता, केवल शांतिपूर्वक ध्यान करने की शिक्षा देकर आलसी बना देता है। खैर! इसको तो जाने दीजिए कि गंभीरतापूर्वक ध्यान करना भी एक बहुत कठिन काम है, बौद्ध मत मनुष्य को दृढ़तापूर्वक निरंतर प्रेरित करता है कि अध्यवसायी बनो और उत्साह से काम लो। वह

तो आलस्य और निकम्मेपन की निन्दा करता है। प्रमाण के लिए बौद्ध धर्म ग्रंथों से कुछ उद्धरण देखिए—"मुझे तो ऐसी और कोई वस्तु नहीं मालूम है जो इतनी आसानी से बुराई की ओर ले जाय और भलाई में बाधा डाले जैसी चपलता, आलस्य, विषमता और असंतोष। मुझे ऐसी और कोई वस्तु नहीं मालूम जो इतनी आसानी से भलाई की ओर ले जाय और बुराई को रोके जैसी शक्ति।" "एक ही दिन जीना और उत्साहपूर्वक कार्य करना सैकड़ों वर्ष आलस्य के साथ जीने से अच्छा है।" "आलस्य एक कलंक है।" "चाहे मेरे शरीर के पट्ठे, खाल और रगें हड्डियाँ, मांस और रक्त के साथ सूख या सड़ जायँ पर मैं अपने उत्साह या शक्ति को उस समय तक नहीं छोड़ना चाहता जब तक कि मैं उस लक्ष्य तक न पहुँच जाऊँ जहाँ तक कि मनुष्य अपने अध्यवसाय (परिश्रम) और प्रयत्न से पहुँच सकता है।" बौद्ध धर्म में उत्तम अष्टांग मार्ग का भी एक भाग है और जिस ढंग से इसकी व्याख्या की गई है उससे यह स्पष्ट है कि लगातार सचाई से शक्ति का प्रयोग करते रहना हमारे लिए आवश्यक है। और हम अभी ऊपर देख चुके हैं कि शक्ति भी ज्ञान-प्राप्ति की सात सीढ़ियों में से एक है। बुद्ध से जब पूछा गया कि वे अपने अनुयायियों को योद्धा क्यों कहते हैं तब उन्होंने जवाब दिया था—"क्योंकि वे ऊँचे गुण, ऊँचे प्रयत्न और ऊँचे ज्ञान के लिए युद्ध करते हैं।" महात्मा बुद्ध के ऊपर जब आरंभ में यह लांछन लगाया गया कि वे अकर्मण्यता सिखा रहे हैं तो उन्होंने उत्तर दिया था—"मैं अकर्मण्यता सिखाता हूँ और कर्मण्यता भी। मेरी शिक्षा है कि बुरे काम, बुरे शब्दों के प्रयोग और बुरे विचार से अकर्मण्य रहो अर्थात् इनको मत करो और अच्छे कामों के लिए, अच्छे शब्दों के प्रयोग करने के लिए और अच्छे विचार

धारण करने के लिए कर्मण्य बनो। इस प्रकार मैं अकर्मण्यता और कर्मण्यता दोनों सिखाता हूँ।" और भी उन्होंने कहा था—"एक गुण महान् कल्याण का कारण है। कौन ? भले कामों के लिए अथक उत्साह।"

पुनर्जन्म का नैतिक महत्त्व

मनुष्य जब मर जाता है तो मृत्यु उसकी सांसारिक विषय-भोग की निरंतर बढ़नेवाली वासनाओं का अन्त नहीं कर देती। सच तो यह है कि ये ही लालसाएँ फिर उसे दुनिया में ले आती हैं। उसका बार बार जन्म लेना विशेषकर उसकी शारीरिक तथा अन्य प्रकार की लालसाओं की तीव्रता और समय से ही निर्धारित होता है। साधारणतः एक मनुष्य जो पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता अपनी मृत्यु निकट आने पर भयानक ग्लानि और दुःख से पीड़ित होता है—कुछ तो मृत्यु की भयानक पीड़ा से तथा जिस शरीर रूपी घरौंदे के अंदर वह बहुत दिनों तक रह चुका है उसके वियोग से और कुछ यह सोचकर कि दुनिया के सारे विषय-भोग सदैव के लिए छूट रहे हैं, अब इनका आनंद न मिलेगा। इस प्रकार वह सघन निराशा से पूर्ण होकर मरता है। लेकिन एक भारतीय जो पुनर्जन्म में विश्वास करता है, मरते समय शांति और विरक्ति के साथ अपना शरीर छोड़ता है, क्योंकि उसको दृढ़ विश्वास है कि जब तक उसे इस संसार में रहकर जीवन-भोग की लालसा है तब तक वह बारंबार जन्म ग्रहण करेगा ही। ऐसे व्यक्ति के लिए मृत्यु की सारी भीषणता और भयानकता दूर हो जाती है। वह शांतिपूर्वक और चुपचाप मृत्यु का सामना करता है। जो कुछ वह चाहता है कालांतर में उसको वह अवश्य मिलेगा क्योंकि वह आत्मा है और दिव्य जीवन का एक अंश है।

हिन्दू, बौद्ध और जैन मत वाले मृत्यु से नहीं डरते जैसा कि सेमीटिक वर्ग के धर्म को माननेवाले डरते हैं। मृत्यु तो हमारे लिए मोक्ष का साधन या द्वार है इससे तो केवल शरीर रूपी कपड़े का नाश होता है। वास्तव में जो मनुष्य है वह तो बिलकुल अछूता रहता है। गीता में श्रीकृष्ण जी कहते हैं—

"जैसे इस शरीर के भीतर रहनेवाला (जीव) बाल्य युवावस्था और वृद्धावस्था का अनुभव करता है, वैसे ही एक शरीर छोड़कर दूसरे में चला जाता है। धीर पुरुष इससे दुखी नहीं होते।" (गीता २-१३)

जब नचिकेता के पिता ने उससे कहा कि "जाओ मैं तुम्हें मृत्यु के अर्पण करता हूँ" तब उसने कहा था कि "यह तो मेरे लिए विशेष रूप से कोई असाधारण बात नहीं हुई।" वह कहता है—

"मैं बहुत लोगों से पहले और कितने ही लोगों के बीच में परलोक की यात्रा करनेवाला हूँ। मृत्यु देवता अर्थात् यम मेरा क्या करने वाले हैं? जो पहले जा चुके हैं हमारे उन पूर्वजों की ओर दृष्टि डालो और उनको भी देखो जिन्होंने उनका अनुसरण किया। मनुष्य अन्न (खेती) की तरह पकता है और अन्न की तरह फिर पैदा होता है।" (कठोपनिषद् १-१-५-६)

जैसे अन्न का कण पकता है, नष्ट होता है और फिर पैदा होता है वैसे ही एक मनुष्य जीता है और फिर पैदा होने के लिए मरता है।

हम मृत्यु को कोई दुःखद और भयानक वस्तु समझते हैं, मृत्यु को मनुष्य का शत्रु समझते हैं। लेकिन मृत्यु में मनुष्य की शत्रुता की अपेक्षा दूसरे लक्षण भी हैं। इतना ही नहीं मृत्यु मनुष्य का मित्र है, शत्रु नहीं। मृत्यु ही वह मित्र है जो

उस कारागार का द्वार खोलती है जहाँ जीव अपने पिछले जीवन के दुष्कर्मों और दुर्विचारों के परिमाणस्वरूप बंधनों में पड़ा पड़ा दाँत पीसा करता या झल्लाता है। बहुधा मृत्यु जो एक ओर से देखने में भयानक मालूम होती है, दूसरी ओर से देखने में जीवन में नव जन्म का द्वार प्रतीत होती है।

कर्म और पुनर्जन्म के नैतिक महत्व पर सर चार्ल्स इलियट के विचार रुचिकर होने के कारण ध्यान देने योग्य हैं—

"इन पुनर्जन्म और कर्म-संबंधी विचारों का एक नैतिक मूल्य है; क्योंकि वे यह बतलाते हैं कि एक मनुष्य को जो कुछ मिलता है वह इस पर निर्भर है कि वह कैसा है और अपने को कैसा बना रहा है। साथ ही उनको स्वीकार कर लेने पर यह मानने की कठिनाई दूर हो जाती है अर्थात् यह भ्रम नहीं रह जाता कि उस उदार सृष्टिकर्ता ने मनुष्य को एक ही जन्म देकर किस प्रकार इतने विभिन्न, विचित्र और अयोग्य अनुपात में उसके भाग्य का विधान किया होगा। पूर्वीय देशों में साधारण लोगों का विश्वास है कि भलाई के साथ जीवन व्यतीत करने से इस लोक या स्वर्ग में दूसरा सुखमय जीवन मिलेगा, जो नित्य तो नहीं होगा, पर फिर भी दीर्घकालीन होगा। परंतु कितने ही लोगों का उच्चतर आदर्श संसार का त्याग और मुनियों की भाँति जीवन व्यतीत करना है, जिसमें कोई कर्म संचित नहीं होता और फलतः मृत्यु के बाद आत्मा को दूसरे जन्म में नहीं जाना पड़ता, वरन् वह उस उच्चतर और रहस्यमय अवस्था को प्राप्त करता है जो जन्म और मृत्यु से परे है। इसी प्रकार के विचारों की व्यापकता ने भूल से हिन्दू और बौद्धमत को निराशावादी और अकर्मण्य प्रसिद्ध कर दिया है।"

हम देख चुके हैं कि कर्म और पुनर्जन्म के ये अनुल्लंघनीय सिद्धांत किसी भी प्रकार न तो मनुष्य के संकल्प को निष्क्रिय

बना देते हैं और न उसके रुचि-स्वातंत्र्य का हरण करते हैं। यह सुन्दर नियम बिना किसी प्रकार की रत्ती भर भूल के, ठीक ठीक हमारी प्रत्येक प्रकार की मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्थितियों में कार्य करता है। प्रत्येक जीवधारी इसके अधीन है। देवी भागवत (४, २, ८) में कहा गया है कि "समस्त ब्रह्म और उसके अतिरिक्त जो कुछ भी है इसकी सार्वभौम सत्ता के अधीन है।" जहाँ तक प्रारब्ध अथवा परिपक्व कर्म का संबंध है, मनुष्य विवश और असहाय है, क्योंकि वह उसे बदल नहीं सकता, परंतु वह अपने संचित कर्म को सुधार सकता है जिसका प्रभाव मानव-प्रवृत्तियों में दिखाई देता है। जहाँ तक क्रियमाण कर्म अर्थात् जो तैयार हो रहा है उसका संबंध है, मनुष्य स्वतंत्र है और उसको जैसा चाहे बना सकता है। इसीलिए पुरुषार्थ को बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। भीष्मपितामह के ये शब्द आज भी हमारे कान में गूंज रहे हैं कि—"भाग्य से पौरुष बड़ा है।"

यही वह नियम है जो बतलाता है कि जिस वस्तु को हम सच्चे दिल से चाहते हैं, वह सम्भवतः ही नहीं, वरन् निश्चय ही हमको प्राप्त होगी। क्या आशा दिलाने और प्रसन्न रखने के लिए यह नियम पर्याप्त नहीं है? क्या इससे हमारे हृदय में निरंतर अध्यवसाय के साथ काम करने के लिए उत्साह पैदा नहीं होता, प्रेरणा नहीं होती? हमारे जीवन के किसी भी विभाग में सफलता दिलाने के लिए क्या इससे भी अधिक कोई विश्वास-प्रद बात हो सकती है?

इसी नियम के अनुसार यह भी जान लेना सरल है कि कैसे कोई व्यक्ति निवृत्ति या प्रवृत्ति मार्ग पर चलता हुआ अपनी अभिलषित वस्तु प्राप्त करने योग्य हो जाता है। जो प्रवृत्ति-मार्ग के अनुयायी हैं और ऐन्द्रिय सुख, धन,

स्वास्थ्य, यश, कीर्ति आदि की खोज में लगे रहते हैं, वे भी यदि अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए सच्चे दिल से लगे रहें तो निश्चय ही कुछ समय में उसे प्राप्त कर लेंगे।

इतना कह लेने पर क्या यह पूछना धृष्टता होगी कि यह आशा का संदेश है या निराशा का ? क्या यह भारतीय विचार-धारा की—जहाँ हिन्दू, बौद्ध और जैन, कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास रखते हैं--आशावादिता को सिद्ध नहीं करता ?

चौथा अध्याय

ईश्वरीय व्यापकता और मानवीय सारभूतता

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है, "ईश्वर को अग्नि, जल, समस्त विश्व, ओषधियों और वनस्पतियों में वर्तमान समझना चाहिए।" बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि ईश्वरात्मा हमारे नख से शिखा तक उसी तरह व्याप्त है जैसे एक पक्षी अपने घोंसले में समाया रहता है। छान्दोग्योपनिषद् की एक कहानी भी इस ईश्वरीय व्यापकता को प्रत्यक्ष प्रमाणित करती है। एक गुरु ने अपने एक शिष्य से कहा "रात को नमक का एक टुकड़ा पानी में डाल दो और प्रातःकाल मेरे पास आओ।" शिष्य ने गुरु के आदेश का पालन किया। प्रातःकाल गुरु ने पूछा "नमक का टुकड़ा क्या हुआ ?" शिष्य ने बहुत तलाश किया पर वह टुकड़ा न मिला, क्योंकि वह तो पानी में घुल चुका था। गुरुजी ने तब शिष्य से कहा,

'पानी को ऊपर, नीचे और बीच से लेकर चखो।" शिष्य ने वैसा ही किया और कहा—"सर्वत्र नमक ही नमक है।" तब गुरु ने बतलाया कि "देखो, जैसे नमक साधारण रीति से देखने में पानी में अदृश्य हुआ जान पड़ता है फिर भी उसके कण-कण में व्याप्त है ; उसी प्रकार वह सूक्ष्म आत्मा विश्व के कण कण में व्याप्त है। हम उसको चाहे देख न सकें फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि वह सभी स्थान में व्याप्त है और श्रद्धा की चरम वस्तु है।"

जिस प्रकार सब विचार मन के भीतर ही रहते हैं, उसी से पैदा होते हैं और उसमें ही विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में विश्व की उत्पत्ति का एक अनन्त क्रम चलता रहता है—यह एक शृंखला है जिसका न आदि है, न अंत। वह (ब्रह्म) निर्विकार है क्योंकि सब कुछ उसी के अंदर है; अतीत में जो कुछ था, वर्तमान में जो है, भविष्य में जो होगा और जो कुछ भी हो सकता है सब उसी एक अपरिमेय "सर्व" में निवास करता है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ब्रह्म एक तथा संबंधरहित है क्योंकि दूसरा कोई है ही नहीं जिससे उसका संबंध हो। ब्रह्म अद्वितीय है। जिस प्रकार सागर से लहरें पैदा होती हैं वैसे ही उस अपरिमेय पूर्ण से समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है; और जैसे लहरें शान्त होकर सागर में ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार विश्व भी ब्रह्म में लीन हो जाता है। जो कुछ रहा है और जो कुछ है, वह सब—जीवन के एक निर्विकार सत्य में—उसी में रहता है। वह सब जो कभी हो सकता है वहीं उस जगत-पिता की अनंत गोद में सो रहा है। वहाँ दूसरा कुछ नहीं है। नित्य जीवन के एक सहज निर्विकार सत्य में वहाँ सभी वस्तुएँ हैं। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि उसके भीतर सभी प्रकार के

द्वन्द्व हैं जिससे मनुष्य समझ ले कि कोई भी वस्तु न तो उससे छूटी है और न उसके बाहर है। हम यह नहीं कह सकते कि विश्व की रचना हुई क्योंकि इस कहने का अर्थ यह होगा कि इस विश्व का पहले अस्तित्व ही न था, परंतु सच तो यह है कि उस निर्विकार ब्रह्म के भीतर सभी कुछ है।

हमको याद रखना चाहिए कि वह (तत्) नित्य है। वह उत्पन्न नहीं होता, विश्व उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति होती है लेकिन वह (तत्) नित्य और निर्विकार है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान कुछ नहीं जानता क्योंकि वह सब है और सब ब्रह्म है। उस (उपर्युक्त) विचार की गंभीरता और दीप्ति को तब तक मन में रहने दो जब तक कि वह अपनी आत्मा का एक अंश न बन जाय और हम यह न सोच सकें कि 'उस' के बाहर कुछ है ही नहीं। हम इतना ही कह सकते हैं कि 'वह' है, यह नहीं कह सकते कि 'वह' रहता है। "यह जो कुछ सारा जगत है प्राण-ब्रह्म से उदित होकर उसी से चेष्टा कर रहा है।"[१] इस धारणा को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण दिए गए हैं, "जिस प्रकार एक मकड़ी जाल तनती है और समेट लेती है, जैसे ओषधियाँ पृथ्वी से उत्पन्न होती हैं और जैसे जीवित मनुष्य के बाल निकलते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति होती है।"[२] "जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाले सहस्रों स्फुलिंग (चिनगारियाँ) निकलते हैं, उसी प्रकार हे प्रिय, उस अक्षर से अनेक सत्ताएँ प्रकट होती हैं और फिर उसी में लीन हो

---

१. कठोपनिषद् ६. २.

२. मुण्डकोपनिषद् १.१.७

जाती हैं।" ३ "इस अक्षर ब्रह्म में विद्या तथा अविद्या दोनों ही अप्रकाश्य रूप से स्थित हैं। अविद्या निश्चय क्षर अर्थात् नाशवान् है और विद्या अमर है। जो विद्या तथा अविद्या का ईश है वह निश्चय ही कोई अन्य है।" ४

इस 'सर्व' से अस्तित्व, अनस्तित्व और जीवन का विकास होता है। 'तत्सत्' केवल इतना ही कहने से सब कथन की समाप्ति हो जाती है। वह अंतिम सीमा है, परम ध्येय है और यद्यपि वह इतना आश्चर्यमय और शक्तिशाली है, फिर भी वह सब जीवों में छिपा हुआ है। ५ वह हम लोगों में से किसी से भी दूर नहीं है क्योंकि यद्यपि वह सब कुछ है अर्थात् "उसके प्रकट होने के बाद ही प्रत्येक वस्तु प्रकट होती है" और यद्यपि उसके बिना किसी का भी अस्तित्व नहीं हो सकता, फिर भी वह हमारे हृदय में छिपा हुआ है।

क्या इसके समान कोई दूसरी शिक्षा उत्साह पैदा करने वाली है? क्या और भी कोई ऐसी वस्तु है जो नितांत एकाकी मनुष्य के दुःखित हृदय के लिए विश्राम-स्थल हो जैसी यह धारणा कि ब्रह्म जो समस्त विश्व का अधिष्ठाता है, सब के हृदय में अधिष्ठित है। भूलें होने दो, कोई चिंता नहीं। वे नाशवान् हैं, क्षणिक हैं, परंतु आत्मा हमारे हृदय में है और हम आत्मा हैं। दुनिया की प्रत्येक वस्तु चाहे हमारे काम न आवे परंतु आत्मा जो हमारी अपनी आत्मा है हमें कभी भूल नहीं सकती। यही महान् सत्य है जो हमें शक्ति और आत्म-विश्वास प्रदान करता है और इससे जो ध्वनि निकलती है वह अत्यंत आशावादी है।

---

३. मुण्डकोपनिषद् २.१.१

४. श्वेताश्वतर ५. १

५. ,, ३.७

व्यापक ब्रह्म और व्यक्तिगत जीवात्माओं की एकता की सत्यता का इतना वर्णन कर देने के बाद उपनिषदों में कहा गया है कि "परमात्मा प्राणियों के हृदय में निवास करता है" ६ "निश्चय ही यह महान् और अजन्मा आत्मा वह है जो हृदय के भीतर स्थित आकाश में शयन करता है।" ७

अतः अपने जन्मसिद्ध अधिकारों के लिए दावा करने में हमें डरना नहीं चाहिए। हमें यह कहते हुए डरना नहीं चाहिए—कि "सोऽहम् द्वितीयो नास्ति।" अर्थात् मैं वही हूँ, दूसरा नहीं। यदि हम जीवित हैं तो उसके एक अंश हैं। अगर हम कहते हैं कि हम वह नहीं हैं तो हम अपने को मर्त्य सिद्ध करते हैं। जहाँ धर्म और दर्शन ने इस सत्य को नहीं खोज पाया वहीं यह प्रश्न उठ सकता है कि "क्या मनुष्य के भीतर आत्मा है?" जब हम स्वयं आत्मा को पहचानते हैं तब अमरत्व का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि "वह अज है, अमर है, सनातन, शाश्वत और नित्य है।"८ वह सत् है पर दूसरों पर निर्भर नहीं है। वह सबसे ऊपर और सबसे परे है, प्रत्येक वस्तु का वही उद्गम स्थान है।

चैतन्य का विकास—चाहे कहीं भी हो—दैवी चेतनता का विकास है। यह चेतना उस प्रबलतम देवता के रूप में हो सकती है जो सौर-मण्डल का शासन करता है और जिसकी चमक असंख्य करोड़ों मील की दूरी तक प्रकाशमान रहती है। यह वह चेतनता भी हो सकती है जो बालू के उस एक कण में सो रही है जिसे हवा उठाती है और इधर-उधर फेंकती है और जो इतना हलका है कि हवा का सामना भी

---

६ श्वेताश्वतर ३.९

७ बृहदारण्यक ४.४.२२

८ भगवद्गीता २.२०

नहीं कर सकता। सब कुछ ईश्वरीय-चेतनता है क्योंकि दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। और इस चेतनता का जैसा विकास बालू के कण से वनस्पति में, वनस्पति से जीव में, जीव से मनुष्य में और मनुष्य से देव में होता है वह सब केवल ईश्वर है, जो अपनी छिपी हुई शक्ति को पदार्थ के आवरण में प्रकट करता है जहाँ वह अपने को चर्म-चक्षुओं से छिपाकर रखना चाहता है। दूसरा कुछ नहीं है क्योंकि ब्रह्म ही सब कुछ है। उसकी चेतनता के अतिरिक्त और कोई चेतनता नहीं है और वह दूर से दूर स्थान में स्फुरित होती है और छोटे से छोटे परमाणु में निवास करती है। ज्यों ही हमको यह बोध हो जाता है, त्यों ही पश्चिम में बहुधा पूछे जानेवाले उस प्रश्न का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता कि "क्या ईश्वर है?" ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह सब कुछ है और विश्व उसी में अधिष्ठित है। इसका रूप केवल उसका ही रूप है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो पहले नहीं थी, और उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संसार के लोगों का ख़्याल है कि हमारे और दूसरे में कुछ विभिन्नता अवश्य है—परंतु वास्तव में केवल एक वही निर्विकार है। वह और विश्व दो वस्तुएँ नहीं हैं। एक मात्र वही है जो विश्व के रूप में दिखाई देता है। सृष्टि की रचना या वृद्धि होती है यह भ्रम है। जहाँ हम इस तत्व को समझने लगते हैं हमें उपनिषद् के उन अंशों का रहस्य विदित होने लगता है जहाँ कहा गया है कि आत्मा के अस्तित्व को हम किसी प्रदर्शन और तर्क के द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते। इसमें कोई संदेह नहीं है। लिखा भी है—"यह आत्मा न तो शिक्षा द्वारा प्राप्त होने योग्य है और न मेधा अथवा कई बार सुनने और गुनने से ही मिलनेवाला है। यह आत्मा बलहीन पुरुष को नहीं प्राप्त हो

सकता और न प्रमाद, न तपस्या और न गुणों के अभाव से ही यह मिल सकता है।"[1] मांडूक्योपनिषद् में इस पर और भी अधिक ज़ोर दिया गया है क्योंकि उसमें लिखा है कि आत्मा "अदृश्य, अतर्क्य, अस्पर्शणीय, अवर्णनीय, अचिन्तनीय और अनिर्वचनीय है।" तब क्या यह सत्य है कि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है? नहीं! इसका ज्ञान शिक्षा, तर्क अथवा अपने से बाह्य किसी भी वस्तु से नहीं हो सकता। जिसका एक निश्चित प्रमाण आत्मा है और वह प्रमाण तुम्हारे अंदर है।" हमारी आत्मा हम सबके लिए निश्चित से निश्चित वस्तु है। जितने भी सत्य हैं यह सत्य सबसे बढ़कर है।

"केवल आत्म-ज्ञान से ही मनुष्य को निश्चय हो सकता है कि उसकी अपनी प्रकृति शाश्वत ब्रह्म के समान है"—यही हिंदू दर्शन-शास्त्रों का सबसे अपूर्व सिद्धांत है। पराविद्या उपनिषदों का केन्द्रीय सत्य है। यह है परमात्मा और जीवात्मा की एकता। 'तत् त्वमसि' अर्थात् "वह तू है"—यही भाव उत्पन्न करा देना ज्ञान, भक्ति और सत्कर्म का परम ध्येय है। इस पराविद्या से नीचे जो ज्ञान है उससे उपनिषदों का कोई संबंध नहीं, और न इससे ऊपर किसी ज्ञान से—क्योंकि इससे ऊपर कुछ है ही नहीं।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसमें आत्मा और अनात्मा का पूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है। मनुष्य की केवल यही दार्शनिक व्याख्या है। उसका कोई जातिगत विशिष्ट आकार नहीं है, न इन्द्रियाँ हैं और न सिर, हाथ, पैर आदि की बनावट। मनुष्य एक (भूत) प्राणी है—उसका कोई भी रूप हो सकता है—जिसमें जीवात्मा की शक्तियाँ अपनी महत्ता के लिए प्रयत्न

---

1 मुण्डकोपनिषद् ३—२, ३—४

कर (झगड़) रही हैं. जिसमें जड़ (स्थूल) और चेतन (सूक्ष्म) के आधिपत्य के लिए एक दूसरे से संघर्ष चल रहा है। उस मनुष्य के भीतर जड़ और चेतन, स्थूल और सूक्ष्म का ऐसा संघर्ष चल रहा है मानो विश्व का रणक्षेत्र मनुष्य ही है। इस विश्व के अंदर प्रत्येक जीवात्मा का इस युद्धस्थल में प्रयत्न करना आवश्यक है।

यह आत्मा ही है जिसका ज्ञान तथा अनुभव करना आवश्यक है। मानव का बाह्य रूप नश्वर है और उसका तब तक निराकरण होना चाहिए जब तक कि केवल अमर और अक्षर आत्मा न रह जाय।

"जो मनुष्य आत्मा को ईश्वर का रूप तथा भूत और भविष्य का स्वामी जान लेता है वह अपने को छिपाने का प्रयत्न नहीं करता।"[१] आखिर वह क्यों और कैसे छिपाये? वह तो "मृत्युरहित भयरहित ब्रह्म है।" कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिससे वह डर सके। वह स्वयं सब कुछ है और जब वह इस सत्य को जान लेता है, तब कोई वस्तु या व्यक्ति उससे बाहर या पृथक् नहीं रह जाती, जिससे वह डरे। क्या हम समझते हैं कि कोई हमारा शत्रु है? आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अतः आत्मज्ञानी के लिए कोई ऐसी बाह्य वस्तु है ही नहीं जो उसका शत्रु हो सके। क्या हम समझते हैं कि हमारी परीक्षा लेने के लिये हमारे ऊपर मुसीबतें आती हैं और हमारे साथ अन्याय तथा अनुचित व्यवहार होता है? कभी नहीं; हम से पृथक् कोई वस्तु है ही नहीं जो हमारे ऊपर अन्याय कर सके। हम आत्मा हैं, हमारा एक अंश दूसरे अंश पर आघात पहुँचा रहा है। दोनों अंशों को यह नहीं मालूम कि वे अपने ही ऊपर आघात पहुँचा रहे हैं अर्थात् अपने ही हाथों अपना

वृहदारण्यक ४.४.१५

ही सिर पीट रहे हैं। भ्रम के कारण आत्मा आत्मा का शत्रु है और हम यह नहीं समझते कि सर्वत्र और प्रत्येक व्यक्ति में हमारी ही आत्मा के भिन्न-भिन्न हाथ, पैर और आँखें हैं। ये सब हमारे ही हैं और उनमें, हममें कोई भेद नहीं है। वह हाथ (दूसरा व्यक्ति) जो हमको मारने को उठा है, हमारा ही हाथ (अंश) है जो हमारा ही कर्म कर रहा है और जब वह पूरा हो जायगा हम मुक्त हो जायँगे। यह हम ही हैं। इसी-लिए उपनिषदों में कहा गया है कि संसार में कोई शत्रु नहीं, कोई मित्र नहीं। एक ही जीवित व्यक्ति आत्मा है और वह आत्मा "मृत्युरहित, भयरहित ब्रह्म है"। "यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दाहने और बायें है और ब्रह्म ही नीचे-ऊपर सभी जगह फैला हुआ है। यह सारा जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है"।२

व्यक्तिगत चेतना की जितनी विभिन्न अवस्थाएँ हैं उन सबकी समता विश्व चेतना के अंतर्गत भी देखी गई है। जो स्थिति एक व्यक्ति में पाई जाती है, वही विश्व में भी पाई गई है। यद्यपि उपर्युक्त विचार उपनिषदों में पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं किया गया है फिर भी इसके प्रारंभिक संकेत उनमें मिल जाते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (८, १, १-३) में लिखा है "ब्रह्म के इस नगर (शरीर) के अंदर एक छोटा अंतर्मुख स्थान (हृदय) है। उसके भी अंदर एक (दूसरा) छोटा स्थान है, जो इस दूसरे छोटे स्थान में निवास करता है। उसकी खोज करना और समझना आवश्यक है······जैसा बाहरी स्थान है ठीक उसी प्रकार का हृदय के अंदरवाला भीतरी स्थान भी है। स्वर्ग और पृथ्वी दोनों इसके अंतर्गत हैं। अग्नि और वायु, सूर्य और चंद्र, बिजली और तारे—सब वहाँ निवास करते हैं।" यहाँ हमें उस

२. मुण्डकोपनिषद् २.२-११

सिद्धांत की प्रारंभिक अवस्था दिखाई देती है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को विश्व का सूक्ष्म रूप समझना चाहिए और विश्व को व्यक्ति का एक बृहत् आकार और जिसके अनुसार एक व्यक्ति एक दर्पण के समान है जिसमें संपूर्ण सत्य प्रतिबिम्ब रूप में दिखाई देता है। ठीक इसी सिद्धांत का प्रतिपादन लाइबनीज़ भी करता है जब वह कहता है--पदार्थ के छोटे अणु में एक दुनिया है जिसमें जड़, चेतन, जीव और आत्माएँ हैं"।३

तैत्तिरीय उपनिषद् के दूसरे अध्याय में कहा गया है कि 'अन्न-जल से बने हुए इस भौतिक शरीर के भीतर एक दूसरा शरीर है जो प्राणवायु से बना है। पहले शरीर के अंदर दूसरा समाया हुआ है और दूसरे का आकार भी मनुष्य के समान है। प्राणवायु से बने हुए शरीर के भी भीतर एक दूसरा शरीर है जिसमें मस्तिष्क की स्थिति है। इस पहले के अंदर दूसरा समाया हुआ है और यह दूसरा भी आकार में मनुष्य के समान है। इस मानसिक शरीर के अंदर एक दूसरा शरीर विज्ञानमय है। पहला दूसरे से परिपूर्ण है और यह दूसरा भी आकार में मनुष्य के समान है। अंत में, इस विज्ञानमय शरीर के अंदर भी एक आनंदमय शरीर है। पहला दूसरे से परिपूर्ण है और यह दूसरा भी आकार में मनुष्य के समान है"।१

मैत्रेयी उपनिषद् में लिखा है कि प्राचीनकाल में कुछ ऋषि थे जिनको बालखिल्य कहा जाता था। एक बार वे क्रतु प्रजापति के पास गये और उनसे पूछा कि शरीररूपी रथ का हाँकनेवाला कौन है? उनका प्रश्न था "श्रद्धेय प्रजापति, यह शरीर निश्चय एक न चलती हुई गाड़ी के समान है। यदि आपको मालूम हो तो कृपया बतलाइए कि इसका चलाने-

---

३. मोनाडोलॉजी ६१-६९

१ तैत्तिरीयोपनिषद् २. २-५

वाला कौन है ?" उपनिषद् में लिखा है कि प्रजापति द्वारा उनको जो उत्तर मिला उसका अर्थ यह था कि शरीररूपी रथ को चलानेवाला आत्मा है जो एक शुद्ध, शांत, अनश्वर, अज और पूर्ण सत्तारूप है, जो अपनी महत्ता से स्वतंत्र स्थित है"। (मैत्रेयी उपनिषद् २. ३–४) और भी कौशीतकी उपनिषद् में लिखा है कि आत्मा को समस्त शारीरिक शक्तियों और ऐन्द्रिय कर्मों का स्वामी जानना चाहिए।

दिव्य आत्मा

वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों में लिखा है—"आत्मा को निरीह (इच्छारहित), ज्ञानवान्, अमृत, स्वयंभू, तत्त्व से संतुष्ट, परिपूर्ण जानता हुआ व्यक्ति मृत्यु से नहीं डरता।" (अथर्ववेद १०.८. ४४)

"यह आत्मा सब कुछ है"—शतपथ ब्राह्मण २.२.१.

बृहदारण्यक (२. १. २०) में आत्मा को "सत्यस्य सत्यम्" अर्थात् सत्य का भी सत्य कहा गया है। यह विश्व के अंदर स्थित है और सूक्ष्मतम परमाणु में भी व्याप्त है।

यह सब निश्चय ही ब्रह्म है। मनुष्य को चाहिए कि उसको आदि, अंत तथा उसमें अपने को श्वास लेता हुआ मानकर उसका ध्यान करे। (छान्दो०, ३. १४. १)

आत्मा नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दाहने और बाएँ है।

आत्मा यह सब है। (छान्दोग्य ७. २५. २)

यह आत्मा सब भूतों का आधार है' (बृहदा० १. ४. १६)

डॉ० पी० डी० शास्त्री कहते हैं—"जब हम उस युग की प्राचीनता पर विचार करते हैं जब कि उपनिषत्कार जीवित थे, तब हमें सचमुच ही यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि उनको ईश्वर और मनुष्य की एकता का संबंध इस स्पष्ट रूप में ज्ञात हो गया था जैसा कि उन्होंने वर्णन किया है। यह

एक ऐसा विचार है जो सदैव अगले दार्शनिक विचारों के लिए मूलाधार सिद्धांत होगा"। २

अब उपनिषदों के पश्चात् विष्णु के सर्वश्रेष्ठ अवतार श्रीकृष्ण के भगवद्गीता में दिये हुये उपदेशों पर विचार करना चाहिए। देखिए, वे कहते हैं—

"इसी ज्ञान से संपूर्ण प्राणियों को, बिना किसी अपवाद के अपनी आत्मा के अंतर्गत और इस प्रकार मुझमें देखोगे। (गी० ४. ३५)

"सब विकास मुझसे होता है अर्थात् मैं सबका आदि कारण हूँ" (गी० १०.२) 'केवल अच्छे, सुंदर, आनंदमय और क्षमशील का ही नहीं, मैं सबका आदि कारण हूँ'। "हे गुडाकेश, मैं आत्मा और प्राणिमात्र के हृदय में स्थित हूँ। मैं ही उनका आदि, मध्य और अवसान हूँ" (गीता १०. २०)। उन सभी क्रियाओं का, जो योग की ओर ले जाती हैं और जो एक मनुष्य को योग द्वारा सात्विक बना देती हैं, केवल यही परिणाम है कि प्राणी "योगाभ्यासी होकर अपनी आत्मा को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपनी आत्मा में स्थित देखता है। सर्वत्र वह यही देखता है" (गीता ६-२६)। कुछ लोगों को यह अवश्य ही आश्चर्यपूर्ण मालूम होता होगा कि "हर एक जगह वही एक है।" होना तो यह चाहिए था कि पापियों की अपेक्षा संतों की आत्मा कुछ महान् या बुरे लोगों की अपेक्षा भले लोगों में आत्मा का कुछ अधिक अंश होता। पर ऐसा नहीं है। स्वयं आत्मा कहती है—

"जो सब प्राणियों में समान भाव से स्थित परमेश्वर को देखता है और भूतों के नष्ट होने पर भी आत्मा को अविनाशी देखता है, वास्तव में वही देखता है"। (गी० १३-

२. माया पृ० ७८

२७–२८)। यह बात बहुत ज़ोर देकर कही गई है कि जिससे कोई मनुष्य इससे बचने का प्रयत्न न करे या इसके समझने में भूल न करे। इतने पर भी यह सोचकर कि शायद यह उपदेश किसी को अत्यंत आश्चर्यजनक मालूम हो और सब होते हुए भी वह इसे अपवाद मान बैठे, वे (कृष्ण) कहते हैं—"वे भाव जो सात्विक, राजस और तामस हैं मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं" (गी० ७-१२)। बचने का कोई रास्ता नहीं है। हम तामसी या बुरे को अलग करके यह नहीं कह सकते कि तुम्हारे अंदर आत्मा नहीं है। तामसी प्रकृतिवाले भी उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। तत्वतः कोई वस्तु स्वभावतः भली या बुरी नहीं है। सब ब्रह्म का अंश है। हम अपने संबंध के कारण अज्ञान से, मूर्खता से तथा हृदयस्थित मनोवेग से किसी वस्तु को अच्छी या बुरी बनाते हैं और इस संसार में हमारा जन्म ही इसलिए हुआ है कि अन्ततः वस्तुओं की एकता को जानकर हम भले और बुरे से परे हो जायँ और परमात्मा से मिलकर शांति प्राप्त करें।

योगेश्वर भगवान् कृष्ण सत्य कहने से नहीं डरते। बिना दुबधा के वे अपनी प्रभावशाली शैली में एक बार फिर कहते हैं (उन लोगों के लिए जो सुनने और समझने के लिए काफी बुद्धिमान् हैं)— "मैं सब प्राणियों के हृदय में बैठा हूँ और मेरे ही द्वारा उन्हें स्मृति और ज्ञान की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है।"—(गी० १५-१५) देखिए, यहाँ केवल "स्मृति और ज्ञान" ही नहीं कहा गया, वरन् इनके अभाव के संबंध में भी कहा गया है। गीता के नवें और दसवें अध्याय में और कुछ नहीं कहा गया, केवल अर्जुन को क्रमशः परमात्मा का विराट् रूप दिखाया गया है। एक के बाद दूसरी वस्तु को लेकर श्रीकृष्ण यही कहते चलते हैं कि "मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, दूसरी

वस्तु भी मैं ही मैं हूँ। सब ऋषि हूँ, पहाड़ हूँ, नदियाँ हूँ, वृक्ष हूँ और जीव हूँ, मैं सभी कुछ हूँ।"

"मेरा ही आत्मा का एक अंश जीवलोक में, एक अमृतात्मा में रूपान्तरित हो स्थूल पदार्थ से आच्छन्न हो मन तथा अन्य छः इन्द्रियों को अपने चारों ओर आकर्षित करता है।"—(गीता १५-७)

जैनमत

आत्मा के भेद और गुण

आत्मा की शक्तियाँ अनंत हैं। समस्त विश्व इसका क्षेत्र है। इसके ज्ञान और दर्शन सर्वव्यापक हैं। इसका आनंद समय से सीमित नहीं है; क्योंकि समय उससे आगे नहीं जा सकता। इसकी शक्ति दिव्य है; क्योंकि यह (आत्मा) सर्वज्ञ से सम्बद्ध है। जैन मत का यह महान् सिद्धान्त है कि यह तुच्छ "मैं" जो हमारे अनित्य जीवन का सतत-लुब्ध केन्द्र है, शाश्वत है। प्रकृति इसको अधीन बना सकती है और इसे आत्म-ज्योति, आत्म-स्वातंत्र्य और आत्मानंद से परे भी रख सकती है, परंतु इसका विनाश नहीं कर सकती। जैनमत मृत्यु की पोल खोल देता है। जीवन की डोर कहीं टूटती नहीं। जीव का एक शरीर छोड़कर दूसरे में प्रवेश करना इस जीवन-डोर की ग्रंथियाँ हैं। हमारी जीवन-यात्रा की उपमा रेल की एक लम्बी यात्रा से दी जा सकती है—जिसमें हम विभिन्न स्टेशनों पर ठहरते चलते हैं। आत्मा गाड़ी की खिड़की से बाहर झाँकती है—किसी स्टेशन पर वह देर तक दृश्य देखती है, किसी पर एक नज़र ही फेंक कर रह जाती है, कहीं वह मनुष्यों और वस्तुओं के किसी झुण्ड को रुचि और ध्यान से देखती है और कहीं लापरवाही से एक नज़र यों ही

फेंककर आगे बढ़ जाती है। हमारे संपूर्ण जीवन का विस्तार केवल ६० या १०० वर्षों का ही नहीं है। मा के पेट से बाहर निकलने के पहले एक युग बीत चुका है, जिसकी हमें याद भी नहीं है और मृत्यु के पश्चात् एक मृत्युरहित और अपरिचित रास्ता खुला पड़ा है। जब मृत्यु का द्वारपाल चाभी घुमाता है और हम प्रविष्ट होते हैं तो हमें यमराज का सीमित महा-कक्ष नहीं मिलता वरन् वे स्वतंत्र क्षेत्र मिलते हैं, जिन्हें पार करने के लिए ६० या १०० वर्ष तो केवल तैयारी में ही लग जायँगे। आत्मा निस्संदेह सूक्ष्म है, इसमें न स्पर्श है न स्वाद, न घ्राण और न रंग। यह ज्ञान और शक्ति का सार तत्त्व और चिरंतन आनंदमय है। इसकी संभावनाओं का पता कौन लगा सकता है? यह गुदड़ी में छिपा हुआ लाल (सम्राट्) है। इसे अपने पिछले वैभव, शक्ति और ऐश्वर्य की धुँधली याद अवश्य है; परंतु अपनी कंथा (गुदड़ी) को स्पष्ट देखकर उसे विश्वास ही नहीं जमता कि कभी वह सम्राट् भी रह चुका है। "ये चिथड़े पहने हुए मैं सम्राट् कैसे हो सकता हूँ? इस पर विश्वास ही कौन करेगा?"

बहुत दिनों तक दुःख और बन्धनों को सहते-सहते मानव-आत्मा को अपनी शक्ति और श्रेय के संबध में संदेह होने लगता है।

"आत्मा कर्म की धूल से रहित होकर लोकांत तक जाती है, और पूर्ण ज्ञान तथा दर्शन की प्राप्ति करके अनन्त तथा अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करता है।' (पंचास्तिकाय गाथा—२८)

"इस प्रकार शांति चाहनेवाली आत्मा किसी भी वस्तु के साथ तनिक भी आसक्ति (लगाव) स्वीकार न करेगी। इस प्रकार मोह (आसक्ति) से छुटकारा पाकर, वह संसार-सागर के पार उतर गई।"—(गाथा १७२)

"कर्म की अनुपस्थिति से सर्वज्ञ और विश्वदर्शी आत्मा अक्षुण्ण, अतीन्द्रिय और अनन्त आनंद प्राप्त कर लेती है"।—(गाथा १५१)

हम देख चुके हैं कि भारतीय विचारधारा की प्रमुख विशेषता ईश्वर की व्यापकता और मनुष्य की सार-भूतता है। हम यह भी देख चुके हैं कि मनुष्य केवल धूल का एक कण नहीं है जो आज दिखाई देता है और कल ही चला जाता है। ईसाई सिद्धांत के प्रतिकूल, वैदिक मत के अनुसार मनुष्य की प्रकृति में आदि-पाप का चिह्न नहीं पाया जाता। आदि-पाप की भावना के विरुद्ध यहाँ मनुष्य को स्वयं ईश्वर का एक अंश—एक प्रमुख अंग माना गया है। भारतीय दर्शन के प्रत्येक मत में मनुष्य की दिव्य प्रकृति पर ज़ोर दिया गया है। दिव्य ज्योति से युक्त मनुष्यों की दिव्य ज्योति से युक्त महात्माओं के विशुद्ध ज्ञानरूप उपनिषदों का वाक्य है कि "मनुष्य प्राणधारियों का वह रूप है जिसमें आत्मा और अनात्मा का पूर्ण सामंजस्य है"। जीवात्मा नाम और रूप से युक्त ईश्वर है। वृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है "जीवन निश्चय ही अमृत है, नाम और रूप ही इसका सत्ता हैं और इन्हीं में वह छिपा हुआ है"।—(वृहद० १. ६. ३)

इस प्रकार सब उपनिषद् एक स्वर से पुकार रहे हैं कि जीवात्मा तत्वतः ईश्वरीय गुणों से युक्त है अर्थात् यह सत् है चित् है और आनंद है, स्वयंभू है, समस्त ज्ञान का उद्गम है और स्वभावतः आनंदमय है। अतः विकास के दीर्घकालीन और स्थिर नियम के अनुसार मनुष्य निरंतर आगे और ऊपर की ओर अग्रसर होता चलता है जब तक कि वह ब्रह्म के साथ एकत्व का अनुभव नहीं कर लेता। तत्वतः ईश्वरीय गुणों से युक्त होने के कारण वह अपनी रुचि के

अनुसार किसी भी मानसिक या नैतिक उच्च पद तक पहुँच सकता है।

हम सब नाम और रूप की उपाधियों से परिसीमित ईश्वर के ही अंश हैं और अंश में अंशी या पूर्ण होने की संभावनाएँ या यह कहिए कि सत्यता पहले नहीं हो सकती। हम अंश हैं अतः पूर्ण होने के लिए हम एक क्षणिक सीमा या बन्धन में प्रविष्ट होते हैं जिसमें कि हम विजय प्राप्त कर सकें। इसी लिए इस भौतिक बंधन की आवश्यकता है। अपनी बद्धावस्था में हमको आश्चर्य हो सकता है कि हम यहाँ आये ही क्यों ? किंतु किसी ने इस विश्व में आने के लिए हमको वाध्य नहीं किया। हम अपनी ही इच्छा से यहाँ आये ; ईश्वर हमारे साथ था जो व्यक्त होना चाहता था। और वह व्यक्त होना चाहता था इसलिए हमने भी वैसी ही इच्छा की, क्योंकि हम उसके अंश हैं। अंश रूप से हमको अपनी स्वतंत्रता अवश्य प्राप्त करनी होगी जब तक कि इस स्थूलतम भौतिक संसार में हम वैसे ही सर्वज्ञ और सज्ञान न बन सकें जैसे हम अपने जन्म के स्वर्गीय लोक में रहते हैं—जहाँ हमें अपनी ईश्वरता और ईश्वर से अभिन्नता का ज्ञान रहता है। डा० भगवानदास ने अपनी प्रकाण्ड और चिरस्थायी पुस्तक "साइंस ऑव पीस" अर्थात् "अध्यात्म विद्या की व्याख्या" में बड़ी सुंदरता से यह दिखलाया है कि मनुष्य कितना ऊपर चढ़ सकता है। वे कहते हैं—

"जीव अपने जीवन चक्र के प्रवृत्ति-वृत्तांश के अंत पर पहुँच कर सदृशता—अनात्मा की अनेकता के बीच में भी परमात्मा के भीतर समस्त जीवों की सदृशता और एकता—का अनुभव करता है और इस अद्भुत आश्चर्य से आक्रांत होकर चिल्ला उठता है"। भगवद्गीता में

लिखा है, "देखनेवाला इसे आश्चर्य की दृष्टि से देखता है वर्णन करनेवाला इसे अद्भुत कहकर बखान करता है, सुनने-वाला इसे अद्भुत रूप में सुनता है, और फिर भी देखने, कहने और सुनने के बाद भी कोई इसका पूरा विवरण नहीं जानता"। —(गा० २. २८) और वह भी ठीक इसी प्रकार चिल्ला उठता है—

"जो एकत्व को देखने में समर्थ है उसके लिए शोक और निराशा कहाँ हैं ?" (ईश० उप० ७)

वह देखता है "कि सभी छोटे और बड़े जीव इस मिथ्या अनंत काल, स्थान और गति के अंतर्गत, अनंत रूप से पैदा होते और मरते हैं। वह देखता है कि जोव जो आज रेंगता हुआ एक कीट है, कल बढ़कर एक विस्तृत मण्डल का ईश्वर होगा और वह जीव जो कल एक विस्तृत मण्डल का ईश्वर होगा आगे चलकर दूसरे कल्प में और भी बढ़कर एक अधिक विस्तृत मण्डल का महत्तर ईश्वरता प्राप्त करेगा"।

वही लेखक इसी प्रकार कहते जाते हैं, "इस सबको जानता हुआ वह ब्रह्म को जान और पहचान लेता है और सबको अपने समान ही प्यार करता हुआ सबकी अपने समान ही भलाई चाहता हुआ और उन सब के सुख के लिए अपने ही सुख के समान परिश्रम करता हुआ वह ब्रह्म का अनुभव प्राप्त कर लेता है और स्वयं ब्रह्म हो जाता है। ऐसा ही व्यक्ति सत्यतः मुक्त है, तमाम बंधनों से रहित है और वही ब्रह्म को जानता है और स्वयं भी ब्रह्म के समान है। अनात्मा के समस्त बंधनों से मुक्त, समस्त भ्रम और भूल, अभाव और दुःख तथा तीव्र अशांति और उद्वेगजनक चिंता से परे जो आत्मा है वही सतत शांति की अधिकारिणी है"। १

---

१ साइंस आव् पीस पृ० २२८–९

मनुष्य की उन्नति के संबंध में ऐसी उच्च धारणा तमाम ाशावादी भारतीय विचार-धाराओं का सार तत्त्व है। मनुष्य पने को मानवीय बंधनों की बाधा से जितना ही कम घिरा आ समझता है उतनी ही उसकी आशाएँ और आकांक्षाएँ पर उठती हैं, यहाँ तक कि कोई भी वस्तु अंत में उसके येय को न रोक सकती और न विफल कर सकती है। यदि ह चाहे तो अपने भीतर रहनेवाले परमात्मा को भी जान कता है।

पाँचवाँ अध्याय

असत्य और सत्य

प्लेटो ने कहा था कि "दर्शन (ज्ञान) की उत्पत्ति आश्चर्य े होती है" और इसी आश्चर्य से मनुष्य विचार की ओर न्मुख होता है अथवा आश्चर्य से प्रभावित होकर मनुष्य विचार करता है। परंतु ऐसे कितने मनुष्य हैं जो उन स्तुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए ठहरते हैं जो नके चारों ओर बिखरी पड़ी हैं। प्राचीन भारतीय विचारकों े भी उचित रूप से विचार करने की इस आवश्यक प्रवृत्ति र काफ़ी ज़ोर दिया था। वे कहते हैं कि बिना इस विचार-क्ति के मनुष्य उस सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकता जो सको वैराग्य, शांति (मानसिक) और अनिच्छा की ओर े जाता है जिनके बिना आध्यात्मिक जीवन संभव ही नहीं है।

अधिकांश लोग अपने जीवन-धंधे में इतने डूबे रहते हैं कि वे इस वस्तु को जानने की चिंता ही नहीं करते कि जीवन है क्या? और इसीलिए जीवन की बड़ी-बड़ी घटनाएँ, जो

एक विचारशील व्यक्ति के लिए गंभीर विचार की सामग्री एकत्र कर देती हैं, उनके हृदय में न कोई आश्चर्य पैदा करती हैं और न उन्हें विस्मय-विमुग्ध ही कर पाती हैं। वे बड़ी से बड़ी घटना को भी साधारण रूप में देखते हैं और अपने जीवन की छोटी छोटी बातों में ही व्यस्त रहते हैं।

हमारे जीवन का अत्यंत स्पष्ट और घोर सत्य मृत्यु है जो हमारे सम्मुख खड़ी घूर रही है और प्रति दिन हम लोगों में से कितनों ही का काम तमाम करती रहती है, फिर भी हमें उसका ध्यान भी नहीं रहता कि एक दिन हमें भी मरना है और हम अपने रोज़ के साधारण काम-धंधों में लगे रहते हैं। हमारी इस मनोवृत्ति से हमारी उपेक्षा तथा विचारशून्यता अच्छी तरह प्रकट होती है। मनुष्य इतना पाप करते हैं, इतना दुःख भोगते हैं; क्योंकि वे केवल इस भौतिक जीवन को ही सत्य मानकर चलते हैं जो वास्तव में सत्य नहीं है, वरन् एक नित्य और सत्य वस्तु की छायामात्र है। यदि हम अपने बाह्य जीवन की इस परिवर्तनशीलता पर ध्यान देना सीख लेते तो निश्चय ही अपने स्वार्थ के लिए अन्याय करना या दूसरों को हानि पहुँचाना छोड़ देते।

हमें बहुधा इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि किस प्रकार करोड़ों मनुष्य प्रति दिन भौतिक शरीर धारण करके पैदा होते और मरते हैं तथा कितने असंख्य मनुष्य इस परिवर्तनशील संसार में आये और चले गये होंगे। अपनी भौतिक सत्ता के समाप्त होने पर हम देखते हैं कि जो चीज़ें दुनिया में बड़ी मूल्यवान् और महान् कही जाती थीं उनका कोई वास्तविक मूल्य नहीं है और न उनमें कोई सार है। बुद्धिमान् और विचारवान् मनुष्य छाया या सारहीन वस्तु के पीछे नहीं दौड़ते।

अपने जीवन की बाह्य घटनाओं पर इस प्रकार गंभीर विचार करने से हम संसार के क्षणिक आकर्षणों से बहुत कुछ दूर रह सकेंगे और हमारे मस्तिष्क में एक प्रकार की गंभीरता तथा समता की भावना पैदा होगी जो उच्चतर जीवन की प्राप्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है।

यह सत्य किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह बाह्य जगत् जिसमें तमाम आकर्षण भरे पड़े हैं और जो देखने में अनेक दृढ़ रूपों में प्रकट होता है प्रत्येक क्षण बदलता रहता है और इसलिए असत्य है। यह इतना प्रत्यक्ष है कि इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं। एक विचारवान् निरीक्षक तथा सूक्ष्म चिन्तनशील व्यक्ति को संसार की परिवर्तनशीलता पर विश्वास दिलाने के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है। आम को आम, (फावड़े को फावड़ा) कहना अनुचित नहीं है। किसी अप्रिय सत्य का यथातथ्य वर्णन कर देना जीवन को दुःखमय या नैराश्यपूर्ण दृष्टि से देखना नहीं है। संसार की असत्यता पर विचार करना व्यर्थ नहीं है। इस विचार का नैतिक और उपयोगिता की दृष्टि से भी मूल्य है।

ऐसा प्रायः देखने में आता है कि एक आदमी अस्वस्थता, धन-हानि, असफलता, बेचैनी इत्यादि अनेक प्रकार के घोर संकटों और दुःखों से घिर जाता है और स्वभावतः वह दुखी उदासीन और निराश हो जाता है और उसके लिए अपनी दुःखमय सत्ता का शांतिपूर्वक निर्वाह करना कठिन हो जाता है। परंतु वह व्यक्ति जो इस भौतिक संसार की परिवर्तनशीलता पर विश्वास रखने का आदी है वह वीर है और धैर्यपूर्वक दुर्भाग्य का सामना करता है। जब कभी उसे कठिन अभाव का सामना करना पड़ता है और कोई सहारा दिखाई नहीं देता तब वह निराश होने की अपेक्षा उस दुर्भाग्य में

विचारशीलता से काम लेना है और अपने को इसी विचार से धैर्य देता है कि सुख हो या दुःख—इनमें से कोई स्थायी नहीं है, आखिर उसके कष्ट के दिन भी उतने ही छोटे और क्षणिक होंगे जितने सुख और सम्पत्ति के दिन थे।

संसार की असत्यता की धारणा यदि निरंतर मन में रक्खी जाय तो वह एक मनुष्य को निस्पृह और निश्चिन्त बनाने में सहायता पहुँचाती है। निस्पृहता से बढ़कर दूसरा गुण नहीं है। स्पृहता या लोभ पाप की जड़ है जो आगे चलकर दुःख और कष्ट की जननी बन जाती है। जिसने निस्पृहता का अभ्यास कर लिया है वह किसी भी उच्च उद्देश्य में अपने को लगा सकता है; क्योंकि एक निश्चिन्त व्यक्ति ही नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में महत् कार्य कर सकता है।

जिसने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि प्रत्येक सांसारिक वस्तु परिवर्तन, विनाश और मृत्यु के अधीन है, वह अपने को किसी सांसारिक सुख में लिप्त नहीं होने देता। वह जानता है कि यह क्षणिक है अतः उसके ध्यान देने योग्य नहीं है। इस प्रकार इस गतिशील संसार का उचित मूल्य निर्धारित कर लेने से हमारे जीवन का दृष्टिकोण "अंधकारमय और विषादपूर्ण" नहीं कहा जा सकता, जैसा कि पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं, वरन् इससे हमारा हृदय आशा और आनंद से पूर्ण हो जाता है और हम प्रसन्न तथा संतुष्ट रहते हैं।

"असत्य की कोई सत्ता नहीं है और सत्य की सत्ता का कभी विनाश नहीं होता। तत्वदर्शियों द्वारा इन दोनों सत्यों का निरीक्षण हो चुका है"। (गी० २. १६)

बाह्य जगत् के अंदर रहनेवाली वस्तुओं का विश्लेषण करते हुए उसको परिवर्तित होते देख और फलतः उसे असत्य

जानकर प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने निर्भ्रान्त रूप से उस आधारभूत सत्य का निर्देश किया है जो विकाररहित और अविनाशी है।

हमको शिक्षा दी गई है कि हम विवेक से काम लें और और जब संसार का बाह्य रूप क्षीण और नष्ट होने लगे तब उसके लिए दुखी न हों, वरन् जो सत्य है उसी पर ध्यान दें। इस सत्य का स्पष्टीकरण उपनिषद्कारों ने कई प्रकार से किया है। कठोपनिषद् (१. १. २८) विचारपूर्ण ढंग से पूछता है—

"कभी जराग्रस्त न होनेवाले अमरों के समीप पहुँचकर और उनके जीवन का उपभोग करके इस लोक में रहनेवाला कौन जराग्रस्त मनुष्य होगा जो (केवल शारीरिक वर्ण के राग से प्राप्त होने वाले) सौन्दर्य और प्रेम के सुखों की चिंता से पूर्ण जीवन में सुख मानेगा?" इसी भाव से कठोपनिषद् एक क्षण भर की अमर जीवन की चिंता के सामने ऐन्द्रिय सुख से पूर्ण एक दीर्घजीवन की निंदा करता है। यह विचारपूर्ण भाव मैत्रेयी उपनिषद् में अतिविशद रूप से प्रकट किया गया है जहाँ हमारा ध्यान उस व्यापक दुःख की ओर आकृष्ट किया गया है जो संसार में व्याप्त है और एक अद्भुत काव्यशैली द्वारा वस्तुओं की अनित्यता प्रकट करके सांसारिक (भौतिक) जीवन को दुःख और दर्द का कारण माना गया है। मुंडकोपनिषद् में बृहद्रथ पूछता है, "इस दुर्गन्धिपूर्ण और जो मल-मूत्र, वायु, पित्त, कफ का एक ढेर मात्र है, और जो अपने ही अस्थि, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, वीर्य, रक्त, श्लेष्म और अश्रु से नष्ट हो जाता है, उस सारहीन शरीर को अभिलाषाओं की पूर्ति से क्या लाभ है? यह शरीर काम, क्रोध, लोभ, भय, नैराश्य, द्वेष, प्रिय से पार्थक्य, अप्रिय से मेल, भूख, प्यास, जरा, मृत्यु, रोग और दुःख से ग्रस्त है। इसकी अभिलाषाएं पूरी करने

से क्या लाभ ? निश्चय ही यह समस्त ब्रह्म जगत् नाशवान् है। कीड़े और पतंगों तथा घास और वृक्षों को देखो, वे केवल नष्ट होने के लिए पैदा होते हैं। इनकी तो बात ही क्या है ? बड़े बड़े समुद्र सूख जाते हैं, पर्वत चूर चूर हो जाते हैं, ध्रुव अपने स्थान से डिग जाता है, पर्वत-मालाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, पृथ्वी जल-मग्न हो जाती है और स्वयं देवतागण भी अपने स्थान से हट जाते हैं।" ऐसी ही स्थिति की कल्पना करते हुए बृहद्रथ साकायगय से प्रार्थना करता है कि "जैसे कोई मेढक को जल-रहित कूप से बचाये वैसे तुम मेरी रक्षा करो।" प्रजापति ने कहा, "यह शरीर निश्चय ही मृत्यु के अधीन है, पर साथ ही यह अमृतात्मा का परिधान भी है। जब तक आत्मा शरीर के अंदर बंद रहती है तभी तक वह सुख-दुःख का अनुभव करती है। जहाँ वह शरीर से एक बार मुक्त हुई कि फिर उसके लिए सुख या दुःख नहीं रह जाता। जैसे हवा और बादल, बिजली की चमक और गर्जन शरीर-रहित हैं और शून्य आकाश में पैदा होकर अपने ही रूप में प्रकट होते हैं वैसे ही यह शांतभूत आत्मा, इस नाशवान् शरीर से निकलता है, परम ज्योति तक पहुँचता है और तब अपने ही रूप में प्रकट होता है। यह शान्त भूत जो अपने ही रूप में प्रकट होता है उत्तम पुरुष है"। इस प्रकार यहाँ पर परम सत्य की वास्तविक प्रकृति का एक आभास मिलता है कि वह चैतन्य-स्वरूप है। जो अपने से अपने को देखता है, जो परम ज्ञान के प्रकाश में अपने को अपने से अद्वितीय मानता है उसे अवश्य परम सत्य मानना चाहिए। अतः छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार परम सत्य की प्राप्ति मन की उस उच्छ्वसित (आनंदमय) और आत्मदर्शी स्थिति में होती है जहाँ आत्मा को अपने से भिन्न अन्य किसी वस्तु का

ज्ञान नहीं रहता—(छान्दो. ८.१२)। इस रूपक के अंदर बड़ा गूढ़ अर्थ छिपा है। चित् की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण करके छान्दोग्योपनिषद् के मुनि ने बतलाया है कि शारीरिक चेतनता अथवा स्वप्न तथा घोर निद्रा की अवस्था में जो चेतनता रहती है उसको भ्रम से परम सत्य नहीं मानना चाहिए। आत्मा शुद्ध चित्-स्वरूप है जिसे काण्ट नामक जर्मन दार्शनिक ने 'मैं (अहं) मैं (अहं) हूँ (है)' कहकर प्रकट किया है। जो परमात्मा की शारीरिक चैतन्य से एकता स्थापित करने की भूल करते हैं, वे ही पदार्थवादी अथवा भौतिक तत्त्ववादी हैं।

निरपेक्ष (ब्रह्म) ही केवल सत्य है

भारतीय विचार-धारा का मूल आधार यह है कि विश्व एक है; इसके भीतर या बाहर किसी प्रकार की विभिन्नता नहीं है। कठोपनिषद् में कहा है कि "जो इस संसार में विभिन्नता अथवा अनेकत्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को जाता है। अभिन्नता अथवा एकत्व केवल उच्च स्तर की बुद्धि द्वारा ही देखा जा सकता है।"—(कठ २-४. ११) ब्रह्म की संपूर्ण सत्ता सर्वत्र एक समान है और इसके किसी एक अंग का ज्ञान प्राप्त करना संपूर्ण के ज्ञान प्राप्त करने के समान है। जब श्वेतकेतु अपने गुरु के यहाँ से अभिमान और आत्म-संतोष से भरा तथा अपने को विद्वान् समझता हुआ घर लौटा तब उसके पिता ने पूछा कि क्या तुम्हारे गुरु ने तुम्हें उस अंतिम सत् का ज्ञान कराया "जिसको सुनने से जो सुनाई नहीं पड़ता वह भी सुनाई दे जाता है, जिसके ऊपर विचार करने से जिसका विचार नहीं किया था वह भी विचार में आ जाता है जिसको जानने से जो मालूम नहीं है वह भी मालूम हो जाता है।" श्वेतकेतु ने अपना अज्ञान साफ़-साफ़ स्वीकार कर लिया

और पिता से प्रार्थना की कि बताइए वह परम ज्ञान क्या है। तब उसके पिता आरुणि ने कहा कि "जिस प्रकार एक मिट्टी के ढेले का ज्ञान प्राप्त करने से मिट्टी की बनी हुई सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है,—क्योंकि अन्य सब केवल विकार मात्र हैं उनमें केवल नाम और रूप का अंतर है, आधार सबका मिट्टी ही है; जिस प्रकार एक लोहे के टुकड़े के ज्ञान से लोहे की बनी हुई सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है,—क्योंकि अन्य सब विकारमात्र हैं उनमें केवल नाम और रूप का अन्तर है, आधार सब का केवल लोहा है; जिस प्रकार एक कैंची का ज्ञान प्राप्त कर लेने से पक्के लोहे की बनी हुई सब चीजों का ज्ञान हो जाता है—क्योंकि अन्य सब विकारमात्र हैं उनमें केवल नाम और रूप का भेद है और सबका आधार पक्का लोहा ही है; उसी प्रकार जब ब्रह्म का कोई एक अंश ज्ञात हो जाता है तो उसका पूर्ण ज्ञान हो जाता है, क्योंकि सबका आधार केवल ब्रह्म है जो स्वानुरूप, आत्मस्थ और आत्म-ज्ञात है।" उपर्युक्त वाक्य का भाव यह है कि प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व है, ब्रह्म है।

इस मत की पुष्टि बृहदारण्यक के एक और प्रसंग से भी हो जाती है जब याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं, "यह समस्त ब्राह्मणत्व, यह सब क्षत्रियत्व, ये सब लोक, सब देवतागण तथा सभी भूत प्राणी—वास्तव में ये सभी वस्तुएँ जिनकी सत्ता है, आत्मा हैं। जैसे जब एक नगाड़ा बजाया जाता है तो कोई उसके बाह्य शब्द को नहीं पकड़ सकता, लेकिन नगाड़ा अथवा उसके बजानेवाले को पकड़ने से शब्द को पकड़ा जा सकता है; जैसे जब शंख बजाया जाता है तो उत्थित हुए शब्द को कोई नहीं देख सकता, पर शंख या ध्वनि-कर्त्ता को देखकर शब्द का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, जैसे

एक वीणा के बजाने पर उसकी स्वर-धारा दिखाई नहीं पड़ती परंतु वीणा बजानेवाले को देखकर उसके स्वर का ज्ञान प्राप्त होता है" (बृहदा. २. ४. ६.९) उसी प्रकार बाह्य संसार के ज्ञान के संबंध में, उसके प्रत्यक्ष रूप मात्र से उसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता वरन् मन या आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने से बाह्य संसार का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वाक्य का अंतिम भाग याज्ञवल्क्य का कहा नहीं है. पर पूर्वार्द्ध से यह स्पष्ट है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त वाक्य में आत्मा की वीणा, नगाड़ा,या शंख बजानेवालों से तुलना की गई है और मन की—जिसके द्वारा आत्मा देखती है—वीणा, नगाड़ा या शंख से तुलना की गई है, साथ ही बाह्य संसार की तुलना उस आवाज़ से की गई है जो इन बाजों से निकलती है। यह निश्चय ही आदर्शवादी अद्वैतवाद है जिसमें कर्तृत्व को आत्मा का गुण और मन कर्म के लिए एक साधन माना गया है। उसी उपनिषद् में एक दूसरे स्थल पर याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि केवल आत्मा ज्ञाता है और वह अपने के अतिरिक्त अन्य किसी से जाना नहीं जा सकता। "जब द्वैत की भावना होती है तभी एक दूसरे को सूँघ सकता है, दूसरे को देख सकता है, दूसरे की सुन सकता है, दूसरे के संबंध में कह सकता है, विचार कर सकता है और कल्पना कर सकता है; लेकिन जहाँ आत्मा अकेली है तब क्या और किससे सूँघे, देखे, सुने, विचार करे या बोले? वह जो इस सबको जानता है उसको कोई कैसे जाने? वही नित्य ज्ञाता है, वह कैसे जाना जाय?" (बृहदा. २-४, १३, १४) ऐसे सिद्धांत ग्रहण करने के कारण याज्ञवल्क्य क्षणिक विज्ञानवाद के बहुत ही निकट पहुँच जाते हैं। परंतु वे उससे बचकर निकल गए हैं जैसा कि उसी उपनिषद् के अगले अध्याय में

जनक के साथ वार्तालाप करते हुए वे कहते हैं, "जब यह कहा जाता है कि ऐसा व्यक्ति देखता नहीं है, तो वास्तव में सत्य यह है कि वह देखता है और फिर भी नहीं देखता, क्योंकि देखनेवाले की दृष्टि कभी नष्ट नहीं होती क्योंकि वह अनाशवान है, परंतु उसके अतिरिक्त और उससे बाहर कोई वस्तु है ही नहीं जिसके लिए कहा जा सके कि वह उसको देखता है। (इसी प्रकार) जब यह कहा जाता है कि वह न सूँघता है, न स्वाद लेता न बोलता है, न सुनता है, न स्पर्श करता, जानता या विचार करता है, तब उसका अर्थ यह है कि वह यह सब काम करता है और फिर भी नहीं करता, क्योंकि उसके गंध, रस, स्पर्श, वाक्, श्रवण, कल्पना और ज्ञान इत्यादि की शक्तियों का कभी विनाश नहीं होता, क्योंकि वे अनाशवान् हैं परंतु उसके (आत्मा के) बाहर और उससे भिन्न कुछ है ही नहीं जिसे वह सूँघे, जिसका स्वाद ले या जिससे बोले, जो सुनी जा सके या जिसकी कल्पना, विचार या स्पर्श हो सके। (बृहद्. ४. ३–२३–३१)

इस प्रकार याज्ञवल्क्य अपने को क्षणिक विज्ञानवाद से बचा लेते हैं जहाँ अपने अखण्ड अद्वैतवाद के कारण वे पहुँच गए थे। उल्लिखित वाक्यों का निष्कर्ष यह है कि अद्वैतवादी के लिए आत्मा के अतिरिक्त उससे भिन्न या बाहर कोई अन्य वस्तु नहीं है; उसके किसी अंश का ज्ञान प्राप्त करना पूर्ण का ज्ञान प्राप्त करना है, वही आदि कारण है; उसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु केवल भ्रममात्र है, वही एक नित्य ज्ञानवान् है और जब वह (आत्मा) व्यक्त जगत् के देखने या जानने के कार्य में उलझ जाता है। फिर भी सत्य यह है कि वह न देखता है और न जानता है। आत्मा ही केवल एक सत्ता है और उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

सत्य एक है। भिन्नता और अनेकता केवल भ्रममात्र हैं। पृथ्वी पर भिन्नता (अनेकता) नहीं ह। जो यहाँ झूठी भिन्नता (अनेकता) देखता है वह मृत्यु के बाद मृत्यु को प्राप्त होता है (बार बार मरता है)। इस अप्रमेय और ध्रुव सत् को केवल एकत्व के रूप में देखना चाहिए। (बृहदा. ४, ४, १६-२०)

वास्तव में देखनेवाला न मृत्यु देखता है, न रोग, न किसी प्रकार का संकट। देखनेवाला केवल 'सर्व' को देखता है और सर्वशः सर्व को प्राप्त करता है।" (छान्दो. ७,२६,२)

वही एक सत्य ब्रह्म है जो अभिन्न और एक है। जब मनुष्य इस ज्ञान को भूल जाता है कि सब कुछ निश्चय ही एक ब्रह्म है तब यह रूपात्मक जगत् या निकृष्ट ब्रह्म सत्य प्रतीत होने लगता है, जहाँ प्रत्येक वस्तु भिन्न और पूर्ण सत्तात्मक प्रतीत होने लगती है—तात्पर्य यह कि यह माया या भ्रम है। इसीलिए मैत्रेयी उपनिषद् (६, ३) दोनों ब्रह्म के विषय में साफ़ साफ़ कहती है, "ब्रह्म के निश्चय दो रूप हैं—एक साकार और दूसरा निराकार। जो साकार है वह असत्य है और जो निराकार है वह सत्य है।"

मिथ्या या माया जगत् की सत्यता से स्वप्न-जगत् की सत्यता अधिकतर है। स्वप्न-जगत् की अपेक्षा जीवन-जगत की सत्यता अधिक है और जीवन-जगत की अपेक्षा आत्मा, ईश्वर या अद्वैत के जगत् की सत्यता अधिक है जो अन्ततोगत्वा परस्पर एक समान हैं। दर्शन शास्त्र के प्रत्येक मत को व्यक्त जगत् के किसी न किसी रूप का विचार करना ही पड़ेगा।

अद्वैत के दृष्टिकोण से प्रकृति, आत्मा और ईश्वर सब एक समान ही दृश्यमात्र हैं। केवल अद्वैत ब्रह्म का ही अस्तित्व है;

और प्रकृति, आत्मा तथा ईश्वर ये सभी, जहाँ तक उनका अपना संबंध है, अद्वैत हैं। लेकिन प्रकृति, आत्मा और ईश्वर क्षणिक उपभेद हैं। जिस प्रकार काण्ट ने वास्तविक स्वरूप और दृश्य भाग में अंतर माना है उसी तरह शंकर ने सत्य का प्राथमिक और व्यावहारिक रूप माना है। दृश्य रूप के दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि आत्मा ईश्वर से भिन्न है, प्रकृति एक दूसरी सत्ता है, और ईश्वर रचना करता है। लेकिन वास्तविक रूप से केवल अद्वैत ब्रह्म की ही सत्ता है और प्रकृति, आत्मा तथा ईश्वर सब अद्वैत में लीन हो जाते हैं। शंकर का कहना है कि जो सर्वत्र आत्मा को देखता है उसके लिए भेद कहाँ रह सकता है? उसके लिए सब भेद मिट जाते हैं। यह एक विचित्र बात है कि यद्यपि शंकर ने विषय-जगत् को अज्ञान का परिणाम माना है तथापि व्यवहार रूप में उसे वे सत्य मानते हैं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि काण्ट ने भी जहाँ बुद्धि के तार्किक विश्लेषण द्वारा अपने समय के आदेशवाद तथा संशयवाद का खंडन करके स्वतंत्र परिणाम निकाला था कि संसार जो काल, कारण तथा दिक् से विशिष्ट है, कोई तात्त्विक सत्यता नहीं रखता, वहाँ यह भी माना है कि इस संसार की कम से कम दृश्य रूप में एक सत्ता है जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है। १

अधिकांश प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञानियों ने माना है कि ब्रह्म अद्वैत की सत्ता ही केवल सत्य है। ब्रह्म और आत्मा एक है। विश्व माया है; माया का अस्तित्व केवल दिखावटी और सापेक्ष है। लेकिन आगे चलकर कुछ तत्त्वज्ञानियों ने भिन्न मत

---

1. Doctrine of Maya P. 166

का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ वल्लभाचार्य जी ने यहाँ तक कहा है कि समस्त जगत् सत्य और ब्रह्म का सूक्ष्म रूप है। वैयक्तिक आत्माएँ और जड़ जगत् तत्वतः ब्रह्म के साथ एक हैं। २

अतः यह जगत् ब्रह्म की ही भाँति नित्य और सत्य है और इसकी उत्पत्ति और विनाश का कारण ब्रह्म की शक्ति है। ३

जगत् न तो मायारूप ही कहा जा सकता है और न यह वास्तव में ब्रह्म से भिन्न है। कार्य कारण का संबंध एकत्व प्रमाणित करता है। विश्व सत्यतः ब्रह्म है। ब्रह्म संसार और व्यक्तिगत आत्मा की भाँति स्वयं अपनी इच्छा से प्रकट होता है और उसके सहज गुण में कोई विकार नहीं होता। वही जगत का समवायि (वास्तु) तथा निमित्त दोनों ही कारण है। पक्षपात तथा अत्याचार का दोष ब्रह्म पर आरोपित नहीं किया जा सकता; क्योंकि वल्लभाचार्य ने जीव को ब्रह्म से भिन्न माना है। उनका कथन है कि जीव जब माया के बंधन से मुक्त हो जाता है तो ब्रह्म के साथ एक हो जाता है। ४

माया-जगत को असत्य नहीं माना जाता, क्योंकि माया और कुछ नहीं ईश्वर की ही शक्ति है जिसे वह अपनी इच्छा से उत्पन्न करता है। जगत सत्य है यद्यपि हमारे जगत्-संबंधी अनुभव सत्य नहीं हैं। हम इस बात को नहीं जानते कि जगत ब्रह्म का ही एक रूप है।[१]

---

2. History of Philosophy by Radha Krishnan, Vol.2 P. 756
3. „ „ „ P. 758
4. „ „ „ P. 759

उपर्युक्त कथन का समर्थन प्रोफेसर एफ. एच. ब्रैडले ने भी किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक बाह्य वस्तु केवल रूपात्मक (दृश्य) है और सत्य केवल ब्रह्म में है। उन्होंने लिखा है, "ब्रह्म से अलग कुछ भी सत्य नहीं है और न हो सकता है और जो वस्तु जितनी ही अधिक ब्रह्ममय है उतनी ही अधिक वह सत्य है।" हेगेल का मुख्य उपदेश भी इसी प्रकार का था।

फ़ीक्टे कहता है कि "सच्चा जीवन नित्य में निवास करता है। यह प्रत्येक क्षण में पूर्ण रहता है और यही जहाँ तक संभव हो सकता है सर्वश्रेष्ठ जीवन है। छाया (भूत) जीवन बदलता रहता है। इसीलिए यह छाया-जीवन निरंतर मृत्यु का जीवन है। सच तो यह है कि उसका जीवन ही मृत्यु है।"

मुझे विश्वास है कि पाठकों को जर्मन दार्शनिक ह्यूगो मन्स्टरबर्ग और अँगरेज़ विचारक जे. एस. मैकेन्ज़ी की एक ही नाम की पुस्तकों से परिचय प्राप्त होगा जिनमें उन्होंने जीवन के परम लक्ष्य और शाश्वत उपयोगिता पर ध्यान देने के लिए कहा है।

ये पाश्चात्य दार्शनिक जब हमारा ध्यान उस परम और नित्य आनन्दावस्था की ओर आकर्षित करते हैं जो आत्मज्ञान प्राप्त करने पर प्राप्त हो सकती है तब क्या वे दुःख और अंधकारमय सत्य की विवेचना करते हैं या सुख और अनिर्वचनीय आनन्द का पाठ पढ़ाते हैं? क्या उनके विचार भारतवासियों के इस विषय पर प्रकट किए हुए विचारों से नहीं मिलते?

छठा अध्याय

पूर्ण आनन्द की प्राप्ति

किस प्रकार के आनन्द का मूल्य सबसे बढ़कर है ?

प्रत्येक सांसारिक वस्तु, जिसका आदि है, उसका अंत अवश्य होगा। इसी नियम के अनुसार सर्वोपरि और आदर्श रूप के भौतिक (सांसारिक) सुखों का भी एक दिन अंत हो जाता है ; परंतु जब हम उससे अलग होने लगते हैं तो स्वभावतः हमको कष्ट और निराशा होती है। संतान की उत्पत्ति, कला और साहित्य-रचना, नाम और कीर्ति, यश और प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य और धन—सब क्षीण और नष्ट होने वाले हैं और इसके फल-स्वरूप दुःख और घोर नैराश्य की उत्पत्ति होती है। परंतु भारतीय तत्त्ववेताओं ने जिस आनन्द का निरूपण किया है वह उस श्रेणी का आनन्द है जो विनाश से परे है ; वह नित्य निरंतर और सदैव वृद्धिशील है। कोई ऐसी वस्तु या शक्ति नहीं जो उसे कम या नष्ट कर सके।

इसी प्रकार का आनंद प्राप्त करने तथा अपने जीवन का ध्येय बनाने के लिए बार बार तत्त्ववेत्ताओं द्वारा आदेश किया जाता है। यह वह आनन्द-मंदाकिनी है जिसका उद्गम स्थल स्वयं हमारी सत्ता है और यह आत्मज्ञान पर निर्भर करता है।

हिन्दू धर्म में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस अर्थ में हमारे उपनिषद्कार ऋषियों ने आत्मज्ञान शब्द का प्रयोग किया है वह अपने भीतर निवास करने वाली आत्मा का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त

करना है। इसके विपरीत ब्रेडले तथा कुछ अन्य योरप के नीति कारों ने आत्मज्ञान का जो अर्थ मनुष्य की विभिन्न शक्तियों—जैसे उसकी मानसिक, भावात्मक तथा नैतिक क्षमताओं का तेजोहीन और हृदयहीन ज्ञान प्राप्त करना समझा है, वह ठीक नहीं है। वृहदारण्यक उपनिषद् बतलाता है कि आत्मा—जो हमारे भीतर और बाहर दोनों में सत्य की स्थापना करता है—हमारी इच्छाओं का चरम लक्ष्य है और होना भी चाहिए। वह प्रेम के किसी भी व्यावहारिक विषय, जैसे सन्तान, धन या इसी प्रकार की अन्य वस्तु से श्रेष्ठतर है, क्योंकि उपनिषद् में लिखा है कि आत्मा हमारी सत्ता का बीज है और हमारे लिए निकटतम और प्रियतम है। उसी उपनिषद् के अनुसार एक और भी कारण है जिससे आत्मा को हमारी अभिलाषाओं का परम ध्येय होना चाहिए। उसमें लिखा है कि जिसने आत्मा को प्राप्त कर लिया है उसके लिए कोई भी अभिलाषा पूर्ण होने के लिए शेष नहीं रह जाती; वह पूर्णतया इच्छारहित हो जाता है। परंतु उपनिषदों के आत्मज्ञान-सिद्धान्त का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि 'आत्मा इच्छा का परम ध्येय है' वरन् इससे कुछ अधिक है। वृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी के प्रसिद्ध संवाद में यह कहा गया है कि जब याज्ञवल्क्य ने अपनी सम्पत्ति का अपनी दो पत्नियों—कात्यायनी और मैत्रेयी—में बँटवारा करना चाहा तो मैत्रेयी ने अपने पति की आध्यात्मिक सम्पत्ति को यह कह कर चुना कि "मान लो मैं सम्पत्ति से पूर्ण सारी पृथ्वी का अधिकार प्राप्त कर लूँ, परंतु उससे मुझे अमरत्व कभी नहीं मिल सकता।" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया "निश्चय ही नहीं; तुम्हारा जीवन उन लोगों के जीवन के समान होगा जिन्हें जीवन की सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं, परंतु केवल सम्पत्ति की अधिकारिणी मात्र होने से

अमरत्व की कोई आशा नहीं है।" इस पर मैत्रेयी ने उत्तर दिया कि "उसको लेकर मैं क्या करूँगी जिससे मैं अमर नहीं हो सकती?" याज्ञवल्क्य ने इस उत्तर से प्रसन्न होकर कहा, "प्रिये! तुम्हारे इस उत्तर से मैं तुमको सबसे अधिक प्रिय समझता हूँ। आओ, मैं तुम्हें आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा दूँ। पति के लिए ही पति प्रिय नहीं होता, वरन् आत्मा के लिए प्रिय होता है; पत्नी के लिए ही पत्नी प्रिय नहीं होती, वरन् आत्मा के लिए प्रिय होती है; बच्चों के लिए ही बच्चे प्रिय नहीं होते वरन् आत्मा के लिए प्रिय होते हैं; धन के लिए धन प्रिय नहीं होता वरन् आत्मा के लिए प्रिय होता है...प्रत्येक वस्तु अपने लिए प्रिय नहीं है वरन् आत्मा के लिए प्रिय होती है। हे मैत्रेयी! इस आत्मा को ही देखना चाहिए, इसे ही सुनना चाहिए और इसी का विचार और ध्यान करना चाहिए क्योंकि जब आत्मा ही देख या सुन ली जाती है, विचारी या ध्यान की जाती है तभी निश्चय रूप से इन सब (पति, पत्नी, धन इत्यादि) का ज्ञान होता है।" (बृहदारण्यक २४. २–५) इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि उल्लिखित प्रसंग का अर्थ नीति के अहंवाद की पुष्टि के लिए नहीं करना चाहिए जैसा कि कुछ लोगों ने किया है, प्रत्युत आत्मज्ञान के सिद्धान्तानुसार ही उसका अर्थ लेना ठीक है। हमको यह न समझना चाहिए कि पति-पत्नी और बाल-बच्चे स्वार्थ के लिए ही प्रिय होते हैं और 'आत्मन्' शब्द को 'स्व' अर्थात् 'अपने' के अर्थ में लेना ठीक नहीं है। 'आत्मन्' शब्द जो मूल उद्धृत पद के अंत में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' के रूप में आता है हमको 'स्व' अर्थात् 'अपने' के अर्थ में लेने से रोकता है। अतः 'आत्मन्' शब्द को ठीक आत्मा अथवा परम सत्य के अर्थ में लेना ठीक होगा और इस प्रकार वह प्रेम जो हम स्त्री, पति या पुत्र के लिए धारण

करते हैं वह उस प्रेम का एक रूप या प्रतिबिम्ब है जो हम आत्मा के लिए धारण करते हैं। वास्तव में केवल आत्मा ही के कारण ये सब वस्तुएँ और व्यक्ति हमें प्रिय हैं। बृहदारण्यक में इस आत्मा को ध्यान द्वारा प्राप्त करने की शिक्षा दी गई है। जब हम आत्मज्ञान की प्राप्ति करने में सफल हो जाते हैं तब हमें अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति होती है।

इसके अतिरिक्त हमें श्रीकृष्ण के उपदेश का भी अनुसरण करना चाहिए "जब तक आत्मा के द्वारा आत्मा में हम आत्मा को पहचान कर संतुष्ट नहीं होते" (गीता ६. २०) और जब तक हम "उस परम सुख को भी नहीं प्राप्त कर लेते जो इंद्रियों से परे मन द्वारा ग्राह्य है और जहाँ स्थित होकर हम भारी दुःख से भी विचलित न होंगे" (गीता ६, २१-२२) तभी हमको "ब्रह्म के संस्पर्श का अनंत सुख प्राप्त होगा।" (गीता ६, २८) और जब इन सबकी समाप्ति हो जाती है और मनुष्य सचमुच ही "आत्मा को सभी भूत प्राणियों में और सभी भूत प्राणियों को आत्मा में देखने लगता है" तब जो "स्थितप्रज्ञ हो, सब भूतों में मुझे स्थित जानकर मेरी पूजा करता है वह योगी, उसका जीवन चाहे किसी प्रकार का क्यों न हो, मेरे भीतर निवास करता है।" (गीता ६-३१) "परम आनन्द का यह महान् सत्य है। वह एक वक्ता हो या लेखक : वह योद्धा हो या किसान : वह एक दार्शनिक हो या व्यापारी : वह सम्राट् हो या राजनीतिज्ञ वह वकील हो या अन्य कोई इसकी चिन्ता नहीं। "यदि वह सभी वस्तुओं में एकता का अनुभव करता है और सबको ईश्वर में स्थित मानता है तो वह मेरे (ब्रह्म के) भीतर निवास करता है—चाहे उसके जीवन का ढंग जो भी हो।" तब वह उस विशेष आनन्द और अपरिवर्तनशील सुख की प्राप्ति करता है जो बुद्धि और ज्ञान से परे है।

आत्मज्ञान का परिणाम

उपनिषदों ने कई स्थलों पर उन मनोवैज्ञानिक तथा अन्य परिणामों का विवेचन किया है जो पहुँचे हुए रहस्यवादियों में ईश्वर की प्राप्ति हो जाने पर उत्पन्न हो जाते हैं। "जो जानता है कि वह आत्मा के साथ एकरूप है और अपने को स्वयं आत्मन् के रूप में अनुभव करने लगता है वह शारीरिक कर्मों में पड़कर अपने शरीर को पीड़ा से संतप्त क्यों करेगा? क्योंकि उसकी अभिलाषाएँ तो पूर्ण हो चुकी हैं और उसने अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है।" (बृहदा० ४. ४. १२) इसका अर्थ तो यही है कि एक पहुँचा हुआ रहस्यवादी जब आत्मा के साथ अपने शरीर की एकता का अनुभव करने लगता है तो उसकी शारीरिक सुविधाओं की समस्त अभिलाषाएँ विलीन हो जाती हैं। फिर दूसरी बात यह होती है कि "जहाँ एक बार उसने ईश्वर को देख लिया जो उच्चतम से भी उच्चतर है, तहाँ उसके हृदय की ग्रंथियाँ टूट जाती हैं, उसकी शंकाओं का समाधान हो जाता है और उसके कर्मों के प्रभाव नष्ट हो जाते हैं।" (मुंडकोपनिषद् २. २. ८) वे शंकाएँ जो अब तक उसके मन को विकल रखती थीं और वे कर्म जिनके परिणाम-स्वरूप वह अब तक दुःख भोगा करता था, तुरंत नष्ट हो जाते हैं। एक पहुँचे हुए फ़कीर या रहस्यवादी का लक्षण भी यही है कि उसके लिए कोई शंका समाधान के लिए शेष नहीं रह जाती। जब उसे सदा के लिए सत्य का ज्ञान हो जाता है तो फिर शंकाएँ ही क्या रह सकती हैं? इसके बाद, तीसरी बात, हम मुंडकोपनिषद् में देखते हैं कि आत्मज्ञान की प्राप्ति के पूर्व एक रहस्यवादी के शक्ति के अभाव तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् उस के शक्ति-संचय में बड़ा भेद है। "यद्यपि जीवात्मा

परमात्मा के साथ अब तक एक ही वृक्ष पर स्थित रहा, तथापि वह मोहित तथा अपनी पूर्ण असमर्थता पर दुखी था; परंतु एक बार जब वह परमात्मा से, जो आदि शक्ति है, समता प्राप्त कर लेता है, उसका दुःख तुरंत विलीन हो जाता है और वह दूसरे (परमात्मा) की अनंत शक्ति का भागी बन जाता है।" (मुंडकोपनिषद् ३–२–१) चौथी बात, तैत्तिरीय उपनिषद् में हमको उस अपरिमित आनन्द का उत्कृष्ट वर्णन मिलता है जो योगी परमात्मा से मिलने पर अनुभव करता है। समाधिस्थ होने पर जीव और ईश्वर के बीच में जो अनन्य सम्बन्ध स्थापित होता है उसकी न कोई उपमा हो सकती है और न है। तैत्तिरीय उपनिषद् में बतलाया गया है कि दिव्य आनन्द के भोग का सीधा परिणाम यह होता है कि योगी सदैव के लिए भय से रहित या मुक्त हो जाता है। एकीभाव दूसरे का विनाशक है अतः आनन्द का अनुभव सदा के लिए भय की भावना को दूर कर देता है। ऐसा पूर्ण योगी क्या और किससे डरे? उसके लिए तो सर्वत्र और सदैव आनन्द है। तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है कि "वह भयरहित हो जाता है क्योंकि उसने अदृश्य, अंतर्हित, अवर्णनीय, अभय, निराधार और सर्वाधार (ब्रह्म) में निवास प्राप्त कर लिया है।" (तैत्तिरीय २. ४)

अंत में, छान्दोग्य उपनिषद् में बतलाया गया है कि "यदि ऐसा योगी कभी कोई कामना पूर्ण करना भी चाहे तो उसे अहंकार के स्पर्शमात्र से रहित होकर आत्मा की सेवा में रह कर अपनी कामना की पूर्त्ति के लिए प्रार्थना करना चाहिए। और इस प्रकार उसकी कामना, जिसके लिए वह प्रार्थना करता है, शीघ्र ही पूर्ण हो जाती है।" (छान्दोग्य १. ३. १२) छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार "आत्मा पापरहित, अजर, अमर,

निर्भय, (विशोक) तथा भूख प्यास से रहित है और उसकी सब कामनाएँ तथा लक्ष्य पूरे हो चुके हैं। ऐसी आत्मा को ढूँढ़ना तथा जानना चाहिए। जो आत्मा को इस प्रकार ढूँढ़ कर प्राप्त कर लेता है वह समस्त लोकों को पा लेता है और उसकी सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं।" (छान्दोग्य ८, ७. १) मुंडकोपनिषद् में भी लिखा है कि "यदि कोई मनुष्य आत्म-ज्ञान-प्राप्त किसी योगी की ही सेवा करे तो भी उसकी सभी कामनाएँ पूरी हो जायँगी और वह जिस लोक की भी इच्छा करेगा, प्राप्त कर सकेगा।" (मुंडक० ३. १. १०) इस प्रकार हम देखते हैं कि एक आत्मज्ञानी पर ईश्वर-प्राप्ति का तात्कालिक प्रभाव यह पड़ता है कि उसकी शारीरिक उत्तेजनाएँ पूर्ण शांत हो जाती हैं ; शंकाएँ विलीन हो जाती हैं ; अनंत शक्ति की प्राप्ति होती है ; अपार आनन्द का सुख मिलता है ; सब प्रकार के भय मिट जाते हैं और वह योगी जो कामना या चिन्ता करता है वह शीघ्र पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

आत्मज्ञान और ईश्वर-ज्ञान एक ही वस्तु है। जो आत्मा को जान लेता है वह ईश्वर का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ईश्वर और मनुष्य की उच्चतर आत्मा में कोई भेद नहीं है।

परम सुख और श्रेय रूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना ही दुःखों के अंत का एक मात्र उपाय है। तैत्तिरीय उपनिषद् में एक उल्लेखनीय प्रसंग के प्रारम्भ में मनुष्य के सुखों का वर्णन है—एक युवक है जिसके लिए संसार ऐश्वर्य और सम्पत्ति से भरा है और जो दृढ़ है, बलवान् है, संयमी है। फिर आगे चलकर यह आनन्द सौगुना हो जाता है और इसी प्रकार सुखों की नित्य प्रति उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और अंत में वह सुख ब्रह्म तक पहुँच जाता है जो आनन्दमय है और मन तथा वाणी से परे है।

आत्मा सर्वशक्तिमान् है और उसको जानने के लिए हमें सचमुच ही इच्छा करनी चाहिए।

अन्त में, हमको इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय विचारधारा के अतिरिक्त संसार में कोई ऐसा दार्शनिक या धार्मिक सिद्धान्त नहीं है जो इतने स्पष्ट और साफ़ साफ़ शब्दों में बतलाए कि हमारा ध्येय आनन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त करके दुःखों का अन्त करना है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है कि "जब तक मनुष्य आकाश को चर्म की भाँति लपेट सकने में समर्थ नहीं होता तब तक उसके दुःखों का अंत नहीं। हाँ, दुःखों से नाता तोड़ने का एक और उपाय योग का नाम भी है।" और आगे लिखा है कि "परमानन्द उस योगी के लिए है जिसका मन शान्त है, जिसकी काम-वासना बुझ चुकी है, जो पापरहित है और जिसकी प्रकृति 'नित्य' है।"

किसी एक उपनिषद् के महान् शब्द हैं कि "जिसने एकत्व (अद्वितीय ब्रह्म) का ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके लिए दुःख कहाँ है? भ्रम कहाँ है? अर्थात् कहीं भी नहीं।"

बौद्ध मत में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति

बौद्ध मत ने प्राणिमात्र के साथ प्रेम करने को बहुत महत्व दिया है, साथ ही विशेष रूप से यह भी आदेश किया है कि अपने शत्रुओं से भी घृणा न करो। बौद्ध धर्मग्रन्थों से कुछ अंश यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

"यदि तुम पर कोई हाथ, छड़ी या तलवार से आघात करे तो भी तुम बदला लेने के सभी विचारों या भावों को रोको। इतना ही नहीं वरन् यह भी ध्यान करो कि 'मेरा हृदय शान्त रहे, मेरे मुख से कोई अपशब्द न निकले, मेरे मन में भी क्रोध छिपा न हो; मैं दया और करुणा से युक्त रहना चाहता हूँ।'

यदि डाकू भी तुम्हारे अङ्गों और संधियों को तेज़ आरे से काटे और तुम क्रोध प्रकट करो तो तुम मेरे सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करते।"

"जिस प्रकार सब नक्षत्रों की ज्योति मिलकर भी चन्द्र की ज्योति के सोलहवें अंश तक भी नहीं पहुँचती, उसी प्रकार मनुष्य के सब सत्कर्म मिलकर भी हृदय के उद्धार-स्वरूप प्रेम के सोलहवें अंश को भी नहीं पा सकते। जिस प्रकार मेघ-रहित आकाश में सूर्य उदय होता, चमकता और प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित और ज्योतिर्मय कर देता है, उसी प्रकार हृदय का उद्धाररूप प्रेम मनुष्य के सब गुणवान् कर्मों से श्रेष्ठ है और उन्हें भासमान, प्रकाशमान तथा ज्योतिर्मय करता है।"

"प्रेम हृदय का उद्धार करने वाला है।"

"ईश्वर प्राणिमात्र को सुखी रखें।'

"सभी भूत प्राणी—छोटे और बड़े, दूर और निकट, दृश्य और अदृश्य—शान्ति और सुख का भोग करें और वे दुःख और दर्द से दूर रहें।"*

सुख

'धम्मपाद में लिखा है—

"काम के समान कोई अग्नि नहीं है, घृणा के समान कोई दुर्भाग्य नहीं है, सत्ता के विभिन्न अंगों की भाँति कोई दुःख नहीं है और निर्वाण की शान्ति से बढ़कर कोई सुख नहीं है।"

"भूख सबसे बढ़कर रोग है, (निर्मित) सत्ता सबसे

---

* The Buddha and his doctrine by C. T. Strauss Pages 96—98

निकृष्ट कष्ट है। सत्य और वास्तविकता के अनुसार इसे जानने पर निर्वाण चरम सुख हो जाता है।"

"स्वास्थ्य परम लाभ है और सन्तोष परम धन; विश्वसनीय मित्र सबसे अच्छा संबंधी और निर्वाण ही परम सुख है।"[१]

बौद्ध संघ[२] के अनेक प्राचीन सदस्यों—भिक्षु और भिक्षुणियों—के पद्यों का संग्रह, प्रशंसा और शांति के पदों के कई साधारण संकलन नहीं हैं।

नैतिक बाधाओं से मानसिक मुक्ति की चेतनता और ज्ञान, एक उच्चतर आदर्श की महत्ता का बोध प्रायः ऐसी शब्दावली में ही प्रकट है—

"यह अनुभव प्राप्त कर लेने पर उसके भीतर से प्रसन्नता प्राप्त होती है और इस प्रकार प्रसन्नता प्राप्त कर लेने पर आनंद की उत्पत्ति होती है...उसका सारा शरीर भाररहित जान पड़ता है...वह शांति की भावना से भर जाता है और उस शांति में उसका हृदय स्थित हो जाता है।"[३]

"जिसने बुद्ध देव की व्याख्या के अनुसार निर्वाण प्राप्त कर लिया है अर्थात् जिसकी कामवासना, द्वेष और भ्रम मिट गया है और जिसने अर्थ-फल जीत लिया है अर्थात् अर्हत् पद प्राप्त कर लिया है, उसके दुःखों का अंत हो गया। दूसरे शब्दों में उसका जीवन देवताओं की भाँति सुखमय हो जाता है जो सुखों के भोक्ता हैं।"[४]

---

१. धम्मपाद पृ० २८

२. थेरा गाथा और थेरी गाथा

३. बुद्धदेव के संवाद (Dialogues of the Buddha. P. 84)

४. धम्मपाद ५. ५. १९७—२००

यदि किसी प्रकार यह संभव हो कि मनुष्य मात्र के हृदय की साधारण परीक्षा ली जा सके तो हमें यह पता लगाने में देर न लगेगी कि प्रत्येक मनुष्य ऊँच हो या नीच, शिक्षित हो या मूर्ख, बालक हो या वृद्ध, सभ्य हो या असभ्य, बिना किसी अपवाद के अपने ढंग से किसी प्रकार के सुख की खोज में है। लेकिन प्रत्येक मनुष्य के सुख का आनंद केवल प्रकार में ही भिन्न नहीं होता वरन् उसकी क्षमता और विकास-क्रम में उसके स्थान के अनुसार उसके आनंद के मूल्य और महत्व में भी भिन्नता होती है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् के शब्दों में "स्पर्शजनित सुख दुःख का गर्भ स्थान है ; उसका आदि और अंत है, बुद्धिमान् उसमें आनंद नहीं मानते।" जीवन के भौतिक सुख और बाह्य स्थूल जगत् का कोई स्थायी महत्व (मूल्य) नहीं है वरन् इसके विपरीत वे क्षणिक और परिवर्तनशील हैं।

बुद्धिमान् मनुष्यों को यह समझने में देर नहीं लगती कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ परिवर्तनशील है और इसीलिए हमारी सत्ता के वास्तविक स्वरूप की अपेक्षा असत्य है। यह हमारे शांत क्षणों में गंभीरतापूर्वक ध्यान देने और विचारने योग्य बात है कि क्या यह संसारी जीवन हमें संतुष्ट करने में समर्थ है? क्या हम स्वयं यह नहीं देख सकते कि अंत में यह सारहीन और असत्य प्रभावित होता है? क्या वे लोभनीय पदार्थ जिनके लिए हम प्रयत्न करते हैं, हमारे हो जाने पर हमें संतुष्ट कर पाते हैं? इस पृथ्वी से जो कुछ भी हमको प्राप्त हो सकता है—स्वास्थ्य, धन, सुख, बल, सफलता तथा कीर्ति—सब या तो क्षणिक हैं या भ्रम (माया) मात्र।

एक बार गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहा था, "हे भिक्षुओ! इस जीवन में केवल दुःख ही पावन सत्य

है जन्म दुःख है बुढ़ापा दुःख है, मृत्यु दुःख है, अप्रिय के साथ संयोग दुःख है, प्रिय से वियोग दुःख है, अभिलाषा का अपूर्ण रहना दुःख है, संक्षेप में सांसारिक वस्तुओं के साथ ये पंच आसक्तियाँ दुःख हैं।"

जिनके ऊपर बुद्ध की समस्त जीवनचर्या आश्रित है वे चार सत्य, संक्षेप में, इस प्रकार हैं—

(१) इस संसार में जीवन दुःख से पूर्ण है।

(२) कामना से दुःख की उत्पत्ति होती है।

(३) कामना का अन्त हो जाने पर दुःखों का भी अन्त हो जाता है।

(४) धार्मिक जीवन और सदाचार से कामनाएँ बुझ जाती हैं (और इस प्रकार दुःखों का अन्त हो जाता है)।

इस सम्बन्ध में हमको यह न भूल जाना चाहिए कि जब हम ऐसी वस्तु की इच्छा करते हैं जो आत्मा—सत्य आत्मा—की वस्तु नहीं है तब इच्छा से दुःख उत्पन्न होता है। ऐसी इच्छा से दुःख उत्पन्न होने का कारण यह है कि जो वस्तु आत्मा की नहीं है वह अनित्य, परिवर्तनशील तथा नाशशील है और इच्छित वस्तु की अनित्यता से उसकी इच्छा करनेवाले को नैराश्य, पश्चात्ताप, विमोह तथा इसी प्रकार के दुःखों की प्राप्ति अवश्य होगी।

जान पड़ता है कि प्रत्येक सांसारिक वस्तु की अनित्यता ने भारतीय विचारधारा पर गहरी छाप जमा ली थी। पश्चिम में लोग साधारण जीवन व्यतीत करते हैं और वार्षिक जीवन अथवा यह कहिए कि एक-एक दिन के जीवन से संतुष्ट हैं और वे उन सभी वस्तुओं को स्थायी मानते हैं जो बिना किसी रूपांतर के कम से कम कुछ पीढ़ियों तक अथवा कुछ वर्षों तक स्थिर बनी रहती हैं। परन्तु दूरदर्शी भारतीय

मस्तिष्क ने काल के विस्तृत क्षेत्र में (आगे और पीछे) अपनी तीक्ष्ण दृष्टि डालकर देख ही लिया कि प्रत्येक बाह्य वस्तु—चाहे उसका जीवन कितना ही सुरक्षित क्यों न प्रतीत हो—न्यूनाधिक काल में अवश्य ही बदलेगी, जीर्ण होगी और एक दिन नष्ट हो जायगी। ब्राह्मण-ग्रंथों के रचयिताओं ने वस्तुओं की अनित्यता को ही उनकी असत्यता का प्रमाण माना है, लेकिन बुद्ध ने, जो अन्य सभी वस्तुओं से पहले मनुष्य के साधारण हृदय को ही प्रमाण मानते थे, देखा कि अधिकांश मनुष्य अनित्यता को असत्यता के रूप में नहीं वरन् दुःख के रूप में ही जानते और पहचानते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि अनित्यता और दुःख का जो संबंध है वह अनित्य को नित्य या सत्य मानने की अत्यंत व्यापक भूल का ही परिणाम है। मनुष्य छाया को पकड़ना चाहता है, शर अथवा नरकुल का सहारा लेता है। छाया उसके हाथ में नहीं आती और इसके फलस्वरूप निराशा उत्पन्न होती है, नरकुल उसके पेट में छिद जाता है और इससे रक्त की धारा बहती है। गौतम ने इसे देखा और अपने प्रेम और करुणा धर्म का प्रचार किया, इसलिए नहीं कि वे प्रकृति से निराश थे प्रत्युत उसमें उनका अपरिमित विश्वास था। उन्होंने यह शिक्षा कदापि नहीं दी कि जीवन एक बुराई है, एक दोष है, वरन् उन्होंने बतलाया कि जीवन के भीतर जो बुराई है, दुःख जो इसका मूल तत्व-सा जान पड़ता है, वह अधिकतर मनुष्य को अपनी ही अज्ञता का परिणाम है—संसार की वास्तविक सत्ता और उसके वास्तविक मूल्य और महत्व का ज्ञान न होने के कारण ही है। और जो अपने को अनित्य तथा परिवर्तनशील वस्तुओं से अलग रख सकते हैं वे इस पृथ्वी पर रहते हुए भी एक ऐसे सुख का भोग करते हैं जो साधारण मनुष्य की सचेतन कामना और

सुख से कहीं अधिक उच्च और शुद्ध है। निराशावाद का चाहे जितना भी गंभीर और अंधकारमय अर्थ क्यों न लिया जाय, वे (गौतमबुद्ध) इससे इतने अधिक दूर थे कि प्रकृति के अंतर में उन्होंने प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ देखा ही नहीं। यदि उस प्रकाश से उनकी आँखें चकाचौंध हो गईं और वे उन छोटे छोटे प्रकाशों को नहीं देख पाये जो पृथ्वी पर जगमगाते रहते हैं, तो यह उनकी आशावाद पर विश्वास की अधिकता ही प्रमाणित करता है, उनकी आत्मा का नैराश्य नहीं।

ईसा का अनुकरण [Imitation of Christ] नामक ग्रंथ में कुछ ऐसे प्रसंग हैं जो उपनिषत्कारों के लिखे-से जान पड़ते हैं। वे प्रसंग इस प्रकार हैं—

यदि भारतीय आदर्शवाद निराशा से पूर्ण है तो उपर्युक्त दिव्य सूत्रों में पृथ्वी और जीवन के संबंध में जो दृष्टिकोण है वह भी निराशावादी है। परंतु निश्चय ही यह निराशावाद नहीं, वरन् पूर्ण आशावाद है, जो मनुष्य के सुख की माप और आदर्श को अपरिमित रूप से ऊपर उठा देता है और फिर भी उसे यह विश्वास दिलाता है कि संसार की सत्ता और वैभव एक महत्वाकांक्षी हृदय की समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिए बहुत अधिक है। बुद्ध के ऊपर निराशावादिता का दोषारोपण करना अपनी बुद्धिहीनता, असूक्ष्मदर्शिता तथा श्रद्धाहीनता स्वीकार करना है। जो यह समझते हैं कि यह सांसारिक जीवन ही जीवन है और इसके सुखों में आनन्द का आदि और अन्त सब कुछ है (और जो यह भी मान लेते हैं कि बुद्धका मत उनके मत से मिलता हुआ था) वे, यह जानकर कि बुद्ध जीवन तथा उसके सुख साधनों में दुःख अथवा कष्ट के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते थे, उन्हें (बुद्ध को) सबसे अधिक विषण्ण तथा अटल निराशावादी मान सकते हैं।

परंतु यह दोष, जो गौतम पर लगाया जा रहा है, उन्हीं लोगों पर लागू होता है। यदि यह सांसारिक जीवन ही जीवन है और इसके सुख-साधन ही आनंद के आदि और अन्त हैं तो विश्व के अंतर में सचमुच ही अंधकार—मृत्यु का भीषण अन्धकार—है।

बुद्ध अपने अनुयायियों से कह सकते थे, "जिसे तुम आनन्द समझते हो वह इस नाम के योग्य नहीं है। इससे कहीं बढ़कर शुद्ध, पूर्ण और सत्य आनन्द तुम्हारे लिए कोष में संचित रखा है। यदि तुम प्रयत्न द्वारा उसे अपने लिए प्राप्त कर सको तो वे सभी आनन्द बिना किसी बाधा के तुम्हें मिलेंगे"। जो इस प्रकार अथवा ऐसी ही कोई दूसरी बात कह सकता था वह अवश्य ही आशावादिता की उस परमोच्च श्रेणी तक पहुँच गया था जिसकी कल्पनामात्र की जा सकती है। इस प्रकार गौतम बुद्ध ने संसार में जो कुछ देखा वह दुःख और मृत्यु का अन्धकार न था वरन् निर्वाण का तेज था जो मिस्टर एडमंड होल्म्स के शब्दों में "एक आदर्श आध्यात्मिक पूर्णता की अवस्था है जिसमें आत्मा अपनी सहज व्यापकता की शक्ति से उन सभी अहंवाद से पूर्ण, अनित्य वस्तुओं से पूर्ण रूप से अलग होकर, व्यापक, नित्य और सत्य से मिलकर एकरूप हो जाती है।" दूसरे शब्दों में निर्वाण का मूल तत्व आदर्श आत्मा को प्राप्त कर लेना है और यह प्राप्ति सर्व और दिव्य ब्रह्म से एकत्व, सजीव चेतन से एकत्व प्राप्त कर लेने पर ही संभव है। (Creed of Buddha पृ० १६६)

क्या यह संदेश निराशावादिता का है अथवा आशावादिता और शाश्वत जीवन के उस आनन्द का है जो हमारी प्रतीक्षा कर रहा है ? इसका निर्णय मैं पाठकों के ही ऊपर छोड़े देता हूँ।

सातवाँ अध्याय

विचार की स्वतंत्रता

स्वतंत्रता—आध्यात्मिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत—तीन प्रकार की होती है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्त करना मनुष्य की न्यायसंगत अभिलाषा है, क्योंकि स्वभाव से ही स्वतंत्रता उसकी अव्यक्त प्रकृति है जिसके कारण वह जीवन में भी अपने जन्मसिद्ध अधिकार—स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए झगड़ता रहता है। यदि कोई ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य अप्रसन्न होता और छुटकारा पाना चाहता है तो वह बंधन, प्रतिबंध और सीमाबद्धता है। और यह बिल्कुल स्वाभाविक भी है। मनुष्य चाहे जीवन की किसी स्थिति में क्यों न हो, जब तक अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र रहता है तभी तक वह प्रसन्न रहता है, किन्तु ज्योंही वह किसी भी प्रकार बंधन में डाल दिया जाता है, वह क्रोधित और चिन्तित होने लगता है; क्योंकि उसकी सहज स्वतंत्रता छिन जाती है। यही सरल, किन्तु सारयुक्त सिद्धांत सभी ऊँच नीच मानवीय और दैवी अवस्था में लागू होता है।

उच्चतर जीवन के क्षेत्र में जन्म और मृत्यु के चक्र तथा स्थूल इंद्रियों और शरीर के दुःखदायी बंधनों से छुटकारा पाना मनुष्य का परम ध्येय समझा जाता है। वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता भी उसी सिद्धांत पर स्थित है और उसी सिद्धांत के अनुसार विचार और कर्म की स्वतंत्रता भी अनुमोदित है। कुछ प्रतिबंधों और उनके फलस्वरूप उत्तरदायित्वों के साथ यह मनुष्य का सच्चा अधिकार है। भारतीय विचारधारा के सच्चे भाव को देखते हुए पता चलता है कि 'जो भाग्य में

लिखा है वही होगा' वाला सिद्धांत मानसिक दासता, असहिष्णुता और दैनिक जीवन में उदार भावना के अभाव का मुख्य कारण है। जब तक मनुष्य इस गहरी खाई को पार करने का प्रयत्न नहीं करता तब तक वह विचार की उस पूर्ण स्वतंत्रता को नहीं प्राप्त कर सकता जो उन्नति का रहस्य है। जब तक हम स्वयं विचार या निर्णय करना नहीं सीखते तब तक अपनी मानसिक और नैतिक शक्तियों को प्रस्फुटित नहीं कर सकते। यही कारण है जिसके लिए हमें यह आदेश दिया गया है कि 'जो लिखा है वही होगा' वाले सिद्धांत पर अंधविश्वास न करो वरन् सहिष्णु और निश्छल बनना सीखो।

मनुष्य का स्वभाव बहुत दिनों तक एक ही सा अवश्य बना रहता है, परंतु वह पूर्णतया जड़ और स्थायी नहीं है; वरन् वृद्धि तथा विकास के नियम के अधीन है। मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से मानव समाज उसी स्थान पर नहीं है जहाँ वह हज़ार या दस हज़ार वर्ष पहले था। संसार की रचना अब से केवल कुछ हज़ार वर्ष पहले नहीं हुई थी, इसकी सत्ता करोड़ों वर्ष पुरानी है (निस्संदेह भारतीय दर्शन के अनुसार) और आगे भी कौन जानता है कितने वर्षों तक यह स्थित रहेगी।

अस्तु, इस परिवर्तनशील, उन्नतिशील और विकासयुक्त संसार में युग की आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक वस्तु को समय समय पर अपनी उपयोगिता बनाए रखने के लिए परिवर्तित होना पड़ता है और वास्तव में वह परिवर्तित होती भी रहती है। एक बड़े आदमी को छोटे बच्चे की ख़ुराक से जीवित नहीं रक्खा जा सकता।

जब तक हम परम पिता परमेश्वर की भाँति पूर्ण न हो जायँ, ब्रह्म को पाकर उससे एकरूप न हों तब तक जन्म से

मृत्यु तक—एक जन्म से भावी अनेक जन्मों तक हमारे जीवन की प्रत्येक अवस्था सापेक्ष ही रहेगी; मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श, जो हमें विकसित करनेवाले हमारे पथ-प्रदर्शक और प्रेरक हैं, अवश्य ही सापेक्ष होंगे और इसी कारण भाग्यवाद की निरुत्साह बनानेवाली शक्ति से रहित रहेंगे।

'जो भाग्य में लिखा है वही अंत में होगा' में विश्वास करना अपने विकास का अंत कर देना है। इस विश्व में जो उस असीम, अनंत, अक्षय तथा अथाह ब्रह्म के अचिन्त्य वैभव और ऐश्वर्य का केवल एक परमाणु मात्र है, प्रत्येक वस्तु और प्राणी, बिना किसी अपवाद के, अवश्य ही सापेक्ष है और उसके (प्राणी के) लिए नित्य ऐसे नवीन आदर्श और सत्य की आवश्यकता पड़ती रहेगी जो उसकी उन्नतिशील नैतिक और आध्यात्मिक स्थिति के अनुकूल हो। हमें आगे की ओर बढ़ना है, पीछे नहीं। जीव, आत्मा और परमात्मा ने जो उच्च और महान् ऐश्वर्य तथा विमुग्ध सौंदर्य प्रकट किए हैं वही सब कुछ नहीं है, वरन् आगे चलकर उसे उन्हें इससे भी उच्चतर और महत्तर ऐश्वर्य तथा इससे भी कहीं अधिक विमोहक सौन्दर्य प्रकट करना है। वह (ब्रह्म) इतना निस्सीम है कि कोई भी धर्म पारस्परिक तुलना की दृष्टि से चाहे कितना ही पूर्ण क्यों न हो, उसकी अनंत पूर्णता का वर्णन नहीं कर सकता। अतः सच पूछिए तो प्रत्येक धर्म उस सर्वशक्तिमान् ब्रह्म के यश का एक अक्षर ही बखान पाता है। ईश्वरीय बुद्धि और ज्ञान इतना गंभीर और अथाह है कि वह किसी एक धर्म की कुछ थोड़ी-सी धर्मपुस्तकों में सीमित नहीं, किया जा सकता। संसार के धार्मिक ग्रंथों ही में नहीं वरन् विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य द्वारा भी उसी सत्य के अंश का सौन्दर्य तथा महत्व प्रतिदिन नए-नए ढंग और रूप से व्यक्त किया जा रहा है।

बेकन कहता है 'ज्ञान जीवात्मा के लिए' कोई वाहन नहीं है न विहार करने के लिए झरोखा; न तो अभिमानी के अभिमान योग्य ऊँची मीनार है न अहंकारी की ऊँची शान है और न लाभ और बिक्री के लिए कोई खुली दूकान है, वरन् वह तो ईश्वरीय वैभव का एक भंडार और मनुष्य जाति के लिए एक देन है

एक बार जब हमें सांसारिक संस्थाओं, मानवीय विचारं और भावों के विकास तथा उनकी परिवर्तनशीलता (चंच लता) का बोध हो जाता है तब हम उनके परिवर्तन औ पतन से खिन्न नहीं होते, क्योंकि कालांतर में प्रत्येक साकार वस्तु का परिवर्तन और विनाश होना स्वाभाविक है। यह बिचार-स्वातंत्र्य का मूल सिद्धांत है। विचारशील व्यक्ति यह हठ कभी नहीं करते कि वे ही मानवीय संस्थाएँ, वे विचार और मत, चाहे वे कितने ही पवित्र और प्रिय क्यों न हों अटल बने रहें। भारतीय दर्शन की शब्दावली में उपयुक्त वस्तुएँ बाह्य-रूप कहलाती हैं और इनकी तुलना अपने परिधान (वस्त्र) से की जा सकती है। मानवीय संस्थाओं और विचारं तथा हमारे पहनने के कपड़ों में बहुत कुछ समानता है, इसी लिए कार्लाइल इसको 'पारिधानिक तत्वज्ञान' की संज्ञा देता है

अब प्रश्न यह उठता है कि वह (कार्लाइल) संसार की रूपरेखा भ्रांति और परिवर्तनशीलता को 'पारिधानिक तत्व ज्ञान' क्यों कहता है और इसका विचार-स्वातंत्र्य से क्या संबंध है। हम जो वस्त्र पहनते हैं उनकी कुछ विशेष ताओं पर ध्यान दीजिए—(१) हम जैसे जैसे शैशव से कौमार कौमार से कैशोर और कैशोर से प्रौढ़त्व को प्राप्त होते हैं य जैसे जैसे हमारे कपड़े जीर्ण होकर फटते जाते हैं, वैसे हम अपने परिधान को भी बदलते रहते हैं। (२) हम ऋतु और ऋतुओं की सर्दी-गर्मी के अनुसार अपने वस्त्र बदल देते हैं

(३) हमारे वस्त्र नाना प्रकार और अनेक रूप-रंग के होते हैं—उनका रंग-रूप और आकार-प्रकार एक नहीं होता। (४) कोई कपड़ा हमेशा के लिए नहीं पहना जाता बल्कि समय-समय पर बदला जाता है। (५) अपने परिधान की प्रत्येक वस्तु हमारी बनाई हुई नहीं होती वरन् एक दर्जी होता है जो वस्त्र तैयार करने में कुशल होता है, और (६) अपने वस्त्र हम स्वयं अपनी आवश्यकतानुसार बनाते या बनवाते हैं, ईश्वर उन्हें नहीं बनाता। वस्त्र के संबंध में जो कुछ कहा गया है (जैसे उसकी सामयिकता, विविधता, परिवर्तनशीलता इत्यादि) वह सब हमारे विचारों, भावों, मतों और रीतियों तथा प्रत्येक युग और प्रत्येक प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांतों के संबंध में भी लागू हो सकता है। यदि हमारे सिद्धांतों और संस्थाओं में समयानुसार उपयोगी और अनुकूल बनने की क्षमता नहीं है तो वे अवश्य ही पुराने और जीर्ण हो जाएँगे। जिसका आदि है उसका अंत अवश्य होगा, यह भारतीय तत्व-ज्ञान का एक मूल सिद्धांत है। वह अज, शाश्वत, नित्य और सनातन ब्रह्म ही सत्य और विकाररहित है। सभी मानवीय संस्थाओं, मानवीय ज्ञान, समाज राजनीतिक तथा धार्मिक संगठनों का अपना-अपना समय होता है। इस परिवर्तनशील जगत् में वे पैदा होते और मिट जाते हैं। कोई भी इस धीरे-धीरे चलते हुए ईश्वरीय विकास-क्रम की उपेक्षा नहीं कर सकता। चाहे हम पसंद करें या न करें, ईश्वरीय इच्छा के अनुसार हम पैदा होते हैं, खिलते हैं और मुरझाकर समाप्त हो जाते हैं। जो ईश्वरीय नियमों के अनुकूल कार्य करते हैं, उनके प्रयत्न सफल होते हैं, वे ऊपर उठते और जगमगाते रहते हैं, परंतु जो प्रतिकूल चलने का प्रयत्न करते हैं वे नष्ट होकर मिट्टी में मिल जाते हैं। केवल मनुष्यकृत

संस्थाओं, प्रथाओं और सम्प्रदायों की ही यह दशा नहीं होती वरन् विश्वमंडल, ग्रहों और बड़ी-बड़ी सभ्यताओं का भी अपना एक समय होता है। उसके बाद उनका नाश होता है और उनके स्थान पर नए विश्वमंडल, नए ग्रहों और नई सभ्यताओं का उदय होता है। हमारे विचार और जीवन का प्रत्येक बाह्य परिधान केवल साधन का द्वार है, साध्य नहीं। एक बार जब उसका कार्य समाप्त हो जाता है तो फिर उसकी आवश्यकता नहीं रहती।

परिधान की ऊपर दी हुई विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए हम देखते हैं कि हमारे विचारों, सिद्धांतों और रीतिरस्मों में भी समय की आवश्यकताओं के अनुसार उपर्युक्त और परिवर्तन होना चाहिए। जाति, धर्म और रंग (काले-गोरे) संबंधी अनावश्यक और छोटे मोटे भेदों को सहन करना चाहिए पर उनको महत्व नहीं देना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विचार और प्रथा के कट्टरपन तथा रूढ़िवादिता का मूल्य घटा दिया जाना चाहिए। मस्तिष्क की शुद्ध प्रकृति तथा मन की निष्पक्ष धारणा से ही हमें वस्तुओं के उचित ज्ञान में सहायता मिल सकती है।

दीर्घकाल से लोग व्यक्त जगत् को ही सत्य मानने के आदी हो गए हैं, इसीलिए वे संसार की नष्ट हो जानेवाली और चलायमान वस्तुओं को ही अधिक महत्व देते रहे हैं। यदि लोगों का विवेक शुद्ध होता और वे सत्य और असत्य तथा प्रत्येक वस्तु के आवश्यक और अनावश्यक पक्षों में भेद करना जानते, तो वे अपना बहुमूल्य जीवन और शक्ति कभी जीवन की इन क्षणस्थायी समस्याओं के हल करने में नष्ट न करते। इतिहास के पृष्ठों में हृदयविदारक युद्ध और विवाद, धार्मिक झगड़े औद्योगिक लूट और राजनीतिक अत्याचारों के

उदाहरण कम नहीं हैं जो पृथ्वी के लगभग प्रत्येक देश में होते रहे हैं। केवल राष्ट्रीय लोभ, गर्व और मर्यादा के झूठे ख्यालों की रक्षा के लिए कितनी सम्पत्ति और कितने ही मनुष्य बिना किसी विचार और क्षोभ के नष्ट कर दिए गए। यदि सभी देशों के राष्ट्रीय नेताओं की सूझ ठीक होती, यदि उनकी दृष्टि सद् विवेक से पूर्ण होती तो वे पारस्परिक भेद-भावों को दूर कर उनके फलस्वरूप होनेवाली लड़ाइयों का अंत कर देते और इस प्रकार मनुष्य के दुःख भी बहुत कम हो जाते। परंतु मानवगण, साधारणतया, यह भूल ही जाते हैं कि इस संसार में उनका जीवन केवल कुछ ही क्षणों का है। थोड़ी सी भी उँचाई और नाप घटने-बढ़ने पर हमें अपने कपड़े बदलने पड़ते हैं; इसी प्रकार यदि हमें किसी प्राचीन सिद्धांत और प्रथा को जिससे अब कोई लाभ नहीं है, छोड़ना पड़ता है तो हम दुखी क्यों हों और दूसरों पर दोषारोपण क्यों करें? जिनको हमने चिता पर जला दिया उनकी हम कभी पूजा भी करते थे और जला इसलिए दिया कि बिना जलाए और कोई चारा न था। गीता (२-२१) में भगवान् कहते हैं "तुम उसके लिए दुखी होते हो जिसके लिए (दुखी) न होना चाहिए·········बुद्धिमान् मनुष्य न जीवित के लिए दुखी होते हैं और न मरे के लिए।"

राबर्ट ब्रिफाल्ट अपनी 'मानव जाति की उत्पत्ति' (The Waking of Humanity) में लिखते हैं "हम अपने जीवन-काल में देखते हैं कि परम्परागत नैतिक नियमों का लोप हो रहा है; भावनाओं और प्रथाओं की पोलें निश्शंक और निस्संकोच भाव से खोली जा रही हैं; लोग अभूतपूर्व औद्धत्य के साथ भले-बुरे के सिद्धांत पर भी संदेह करने लग गए हैं। इस संशयवाद और खंडन के युग मे संयम और सहानुभूति के आदर्शों को, जिनका

प्राचीन समय में केवल स्वप्न देखा जाता और उपदेश दिया जाता था, अधिक व्यावहारिक रूप देकर उनका अत्यधिक प्रचार किया। इतना ही नहीं, इस स्वच्छन्दता और नास्तिकता के युग ने उन आदर्शों को और ऊपर उठा दिया। इस युग में नए सिद्धांतों का निर्माण हो रहा है, नीति शास्त्र की धारणाएँ अधिक उच्च और सत्य हो गई हैं, नीति और सदाचार का उत्तरोत्तर विकास होने लगा है।" इस उन्नति और विकास का सर्वप्रथम कारण है मानवीय विकास का ठीक-ठीक बोध, जिसका पारिधानिक अथवा रूपात्मक तत्वज्ञान से निकट संबंध जान पड़ता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि परिधान या वस्त्र की आवश्यकता केवल मनुष्य को ही पड़ती है, क्योंकि वे ही रचनात्मक विचारों से सम्पन्न हैं। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि वस्त्र अथवा बाह्य आकार केवल क्षणिक है, फिर भी मनुष्य इसके बिना नहीं रह सकता। उनको तुच्छ समझ कर तिरस्कृत और अलग करने की आवश्यकता नहीं है। उनका जो ठीक मूल्य है उसी पर उन्हें ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार समस्त संस्थाओं, विचारों, मतों, प्रथाओं और संप्रदायों के प्रति भी व्यवहार करना उचित है। जो अनिवार्य है उसके लिए रोना व्यर्थ है।

विचार और कर्म की स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्य की आत्मा स्वभावतः स्वतंत्र है। आत्मा पर किसी सम्प्रदायविशेष, रूढ़ि, वस्तु-संबंधी सिद्धांत (वाद), जीवन की कोई विशेष धारणा या पक्षपात का शासन नहीं होना चाहिए। यही हिन्दू आदर्श है। क्या इसे निराशावादी कहा जा सकता है ?

हिन्दूधर्म के व्यापक दृष्टिकोण के संबंध में 'हिन्दूइज्म एंड बुद्धिज्म' के लेखक सर चार्ल्स ईलियट अपनी पुस्तक की

भूमिका में लिखते हैं "यदि हिन्दू धर्म वास्तव में बुरा होता तो इतने उच्च विचार और इतने महान व्यक्ति उसके वातावरण में उत्पन्न न हो सकते। अन्य धर्मों की अपेक्षा उसमें सत्य की खोज कहीं अधिक है। वह कोई सम्प्रदाय नहीं है। हाँ, यह सत्य है कि वह पुरातन हो गया है। उसका ज्ञान या कल्पना से कोई विरोध नहीं है; पदार्थवादी शायद इसके बाहर अवश्य हैं, क्योंकि धर्म के साथ उनका कोई मेल नहीं है, फिर भी सांख्य दर्शन उसमें स्वीकृत है जिसमें ईश्वर या उसकी उपासना का कोई उल्लेख नहीं है। वह वास्तव में प्रगतिशील है और प्राचीन काल से जब जब ऐसा प्रतीत हुआ कि उसका विनाश निकट है तब तब उसमें नवजीवन की कलियाँ प्रस्फुटित हुईं और उसमें नए पुष्प विकसित हुए।" हिन्दूधर्म में अधार्मिक (heresy) नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि विचार के किसी भी क्षेत्र में—चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक, नैतिक हो या दार्शनिक—कोई मनुष्य किसी दूसरे का विचारक या स्वामी (गुरु) नहीं है। विचार को सदैव स्वच्छंद और निरवरोध रखना चाहिए अन्यथा हम गतिहीन और सीमित होकर मर जाएँगे। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम इस प्रकार का असंगत अनुमान कर बैठें कि 'चाहे हम जो कुछ सोचें, कोई चिन्ता की बात नहीं है।' इसके विपरीत हम जो कुछ सोचते हैं, उसका बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि हमारे विचार अशुद्ध होंगे तो हमारे काम भी अशुद्ध होंगे; यदि हमारे विचार नीच होंगे तो हमारा आचरण भी तदनुकूल होगा। इसलिए उच्च तथा अच्छे विचार आवश्यक हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि "मनुष्य की रचना विचार से होती है। जैसा वह सोचता है वैसा ही बनता है।"

प्राचीन काल में हिन्दुओं को विचार तथा वाणी की पूर्ण स्वतंत्रता थी। उन्हें विश्वास था कि जब हम ग़लती करेंगे, समय हमको ठीक कर लेगा, जहाँ कहीं भूल होगी, सत्य उसको धीरे-धीरे जला कर नष्ट कर देगा। किन्तु यदि हम दूसरे का मुख बन्द कर देते हैं तो सम्भव है कि पूर्ण सत्य का कोई महत्त्वपूर्ण अंश, जिसे पूर्ण सत्य में अपना स्थान प्राप्त करना चाहिए, हमारी दृष्टि से छूट जाय और संसार का जीवन उससे वंचित रह जाय। डाक्टर एनी बेसेन्ट ने लिखा है "इसलिए यह आवश्यक है कि रूढ़ियों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँ, क्योंकि वे सत्य की निरंतर और नित्य खोज में बाधा पहुँचाती हैं। उनकी अतिवृद्धि पर उनका खंडन आवश्यक है और अतिवृद्धि तब मानी जाती है जब विकसित होता हुआ जीव स्वयं ज्ञानी हो जाता है और उसे बाह्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती। धार्मिक शिक्षा का उद्देश्य भी यही होना चाहिए कि वह बाह्य प्रमाण को आंतरिक प्रमाण में बदल दे; शास्त्र, गिरजाघर, अथवा गुरु के स्थान पर मनुष्य की भीतरी जाग्रत् आत्मा को बिठा दे। वह अंतःनिवासी और अमृत मानव आत्मा ही सच्चा शासक है। धर्म आत्म-निश्चित होना चाहिये, दूसरे के द्वारा निश्चित नहीं। उसका निर्माण अपने से होना चाहिए और उस समय, जब निर्माण-सम्बन्धी नियमों का पूरा ज्ञान हो जाय। अपनी आत्मा के द्वारा अनुभव किए हुए धर्म का एक सत्य दूसरों के अनुभव किए हुए सहस्रों सत्यों के बराबर है, क्योंकि अपना सदैव अपना होता है और उसे हमसे कोई छीन नहीं सकता।"[1]

'ब्रह्म ही सब कुछ है। यह सत्य मानसिक स्वतंत्रता का

---

१. एनी बेसेन्ट कृत 'मिस्टिसिज़्म' पृष्ठ २१–२२

सबसे बड़ा अधिकार पत्र है। मनुष्य को सोचने दो, उसे कहने दो। यदि वह भूल करता है तो कोई चिन्ता नहीं, और अधिक ज्ञान प्राप्त करने पर वह ठीक हो जायगा। वह आत्मा के बाहर नहीं जा सकता क्योंकि आत्मा सभी जगह है। वह अपने को नहीं भूल सकता क्योंकि आत्मा उसके भीतर निवास करती है। बुद्धि को जितना चाहे ऊपर उड़ने दो, जब तक उसके पंख फड़फड़ा सकते हों उसे ऊपर, और अधिक ऊपर उठने दो, यदि वह अपनी शक्ति से बाहर उड़ सके तो उड़ने दो। पूरब, पश्चिम, उत्तर, और दक्षिण ब्रह्म—निस्सीम आत्मा—सर्वत्र व्याप्त है। बुद्धि आत्मा से बाहर नहीं जा सकती, क्योंकि वह उसका ही व्यक्त रूप है, और इसलिए वह आत्म-सत्ता के नित्य सत्य को नहीं टाल सकती। २

कुछ मनुष्य ज्ञान को किसी विशेष दिशा में उन्नति करते देखकर सशंक हो उठते हैं। खंडन और उच्चतर तर्क, जिससे अनेक धार्मिक मनुष्य बहुत डरते हैं, क्या हानि पहुँचा सकते हैं? भारतीय तत्त्वज्ञान के दृष्टिकोण से तर्क और खंडन कर ही क्या सकते हैं? ये तर्क केवल ग्रंथों का खंडन कर सकते हैं, आत्मा को तो नष्ट नहीं कर सकते। उच्च तर्क, जिसका योरप इतना डंका पीटता है, ग्रंथों की धज्जियाँ उड़ा सकता है, किन्तु वह आत्मा का खंडन नहीं कर सकता। आत्मा का प्रमाण हमारे भीतर है, हमसे बाहर या ग्रंथों में नहीं, चाहे वे कितने हो पवित्र क्यों न हों। पुस्तकों की उत्पत्ति आत्मा से हुई है। ३ वह वैसी ही दूसरी पुस्तकें तैयार कर सकता है।

---

२. डा० एनी बेसेन्ट के 'कमला लेक्चर्स' द्वितीय भाग पृष्ठ ३१.

३. जलालुद्दीन रूमी ने लिखा है—'निश्चय हो तू सब पुस्तकों की जननी है।'

पुस्तकें तो उस आत्मा की उपज भर हैं जो मनुष्य के भीतर अपनी दिव्यता प्रकट कर रही है। कोई भी पुस्तक, कैसी भी क्यों न हो, हमारी श्रद्धा का आधार नहीं हो सकती। तर्क आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता; उसका प्रमाण तो हमारे भीतर है।

विज्ञान को और ऊँचे नक्षत्र लोक तक पहुँचने दो; ब्रह्म तो परे से भी परे है। विज्ञान को सूक्ष्मतम परमाणु का विश्लेषण करने दो। ब्रह्म परमाणु से भी सूक्ष्म है। तब विज्ञान कर ही क्या सकता है? वह संसार में जो और कुछ नहीं केवल परम आत्मा ही है, ब्रह्म के कुछ नए सौन्दर्य का पता लगावेगा।

बौद्ध मत में विचार की स्वतंत्रता

बौद्धमत अपने सिद्धांतों का अनुसरण कराना तो अवश्य चाहता है, परंतु इसलिए नहीं कि हम गौतम बुद्ध अथवा किसी रूढ़िवाद में विश्वास करते हैं, वरन् इसलिए कि हमने स्वयं उनपर ध्यान और विचार करके देख लिया है कि वे सत्य हैं और सर्वत्र प्रयुक्त हो सकते हैं। जो लोग आँखें मूँदकर अपने पवित्र धर्मग्रंथों पर विश्वास रखते हैं, बुद्ध ने उनकी उपमा अंधों की उस क़तार से दी है जिसमें न आगे का व्यक्ति देख सकता है न पीछे का और बीचवाले भी दृष्टिशून्य हैं। उन्हें दूसरों की सभी बातों पर विश्वास करना ही होगा। कालाम निवासियों और बुद्ध के प्रसिद्ध वार्तालाप से स्पष्ट हो जायगा कि हमारा कर्तव्य आँखें मूँदकर विश्वास करना नहीं वरन् खोज करना है। एक बार कालाम के कुछ निवासी बुद्ध के पास गए और बोले—"अनेक साधु हमारे पास आते हैं और अपने विविध विभिन्न मतों का प्रतिपादन करते हैं। इससे हमारे हृदय

में शंका उत्पन्न हो जाती है और हम निश्चय नहीं कर पाते कि किसका विश्वास किया जाय।" इस पर बुद्ध ने कहा—"तुम्हारे हृदय में संदेह होना ठीक और स्वाभाविक है। अंधविश्वास छोड़ देना चाहिए। जनश्रुति रीति-रस्म या केवल कथन पर विश्वास न करो, पवित्र कहे जानेवाले शास्त्रों को प्रमाण न मानो; तार्किक अनुमान, नियमित व्युत्पत्ति, केवल इंद्रियों का प्रमाण तथा चिरपरिचित सम्मतियों अथवा धारणाओं पर विश्वास न करो, केवल बाह्य रूप देखकर ही निर्णय न करो और किसी साधु अथवा गुरु के वचन होने के कारण ही उन्हें स्वीकार न करो। जब तुम स्वयं देख लो कि यह अनुचित है, आपत्तिजनक है, इसको करने से हमको तथा दूसरों को दुःख होगा तब तुम इसे अस्वीकार करो, परंतु जब तुम देखो कि यह ठीक है, आपत्तिजनक नहीं है, इसको करने से हमको तथा दूसरों को सुख होगा तो उसे स्वीकार करो और उसके अनुसार कार्य करो।

अपनी मृत्यु के कुछ ही पहले गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों से प्रश्न किया था—"क्या तुम लोग मेरा सम्मान और आदर तथा मुझ पर श्रद्धा प्रकट करने के लिए ही मेरी सम्मतियों को स्वीकार करते हो?" शिष्यों ने उत्तर दिया—"नहीं, स्वामी!" फिर प्रश्न हुआ "क्या तुमने मेरी सम्मतियों को स्वयं समझबूझकर और विचार करके ही ग्रहण किया है?" शिष्यों ने उत्तर दिया, "ऐसा ही है स्वामी।" बुद्ध ने यहाँ तक कहा है कि यदि कोई सिद्धान्त ऐसा है जिसके ध्येय तक पहुँचने की अब कोई आवश्यकता नहीं है अर्थात वह ध्येय प्राप्त हो चुका है तो उस सिद्धांत से अपने को मुक्त कर लो। उन्होंने ऐसे सिद्धान्त की तुलना एक नौका से की है जो नदी पार करने के लिए तो काम में लाई जाती है, पर

दूसरे छोर पर पहुँचकर छोड़ दी जाती है। यह उपमा विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि बौद्धों का निर्वाण दूसरा छोर कहलाता है।

बुद्ध के समय में भारतवर्ष में धार्मिक और दार्शनिक मतों के प्रचार के संबंध में बहुत अधिक सहिष्णुता थी। बौद्ध-मत में वह सहिष्णुता आज भी विद्यमान है। पचीस सौ वर्षों के लम्बे समय में आज तक एक भी मनुष्य बल-पूर्वक या ज़बरदस्ती बौद्ध नहीं बनाया गया और न इस मत के प्रचार में एक बूँद भी रक्त बहाया गया। इतने पर भी बौद्ध धर्म प्रचार किया जानेवाला धर्म है। यह पूर्वी और मध्य एशिया में बड़ी तेज़ी से फैला और इसने मंगोल और तातारी जैसी असभ्य और जंगली जातियों की प्रथाओं में सुधार किया। ईसा के दो सौ पचास वर्ष पूर्व जब बौद्ध धर्म अशोक जैसे शक्तिशाली सम्राट् द्वारा स्वीकार किया गया था और राजधर्म माना जाने लगा था तब सहिष्णुता का सिद्धान्त यथासंभव और भी अधिक व्यवहृत होने लगा था और यह उस सीमा तक बढ़ा था कि आजकल की संस्कृति के लिए वह एक कपोलकल्पना-सा प्रतीत होता है। इसके प्रबल प्रमाण वे खुदे हुए लेख हैं, जिन्हें सम्राट अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य के कोने कोने में सभी स्थानों पर चट्टानों तथा पत्थरों के स्तंभों और स्तूपों पर खुदवा दिया था। उन शिलालेखों में लिखा है "सम्राट् की अभिलाषा है कि प्राणिमात्र सुरक्षित, आत्मसंयमी, शांतचित्त और सुखी रहें। सम्राट् की सम्मति में पवित्र सदाचार द्वारा विजय प्राप्त करना ही मुख्यतम विजय है, क्योंकि इस प्रकार प्राप्त की हुई विजय सर्वत्र आनंदमय है। (मिस्टर एच्० जी० वेल्स कहते हैं कि केवल अशोक ही ऐसा

सम्राट् हुआ है जिसने विजय के बाद युद्ध करना बन्द कर दिया) सब मनुष्य मेरी संतान हैं। जिस प्रकार हम चाहते हैं कि हमारी सब संतानें समृद्धि का सुख भोग सकें और इहलोक तथा परलोक में सुखी रहें उसी प्रकार हम सभी मनुष्यों के लिए चाहते हैं।" यद्यपि इस प्रकार की और भी राजाज्ञाओं का उल्लेख किया जा सकता है, तथापि हम समझते हैं कि बौद्धमत का भाव और उससे उत्पन्न परिणाम दिखाने के लिए ऊपर दिये हुए उदाहरण ही काफी हैं। कहा भी है कि 'हम उनको उनके फल द्वारा पहचान लेंगे।

यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि बौद्धमत कहाँ तक दमन और अत्याचार से घृणा करता और स्वतंत्रता की महत्ता समझता था। बुद्ध ने जिन संघों और विहारों की स्थापना की, उनमें भी सदस्यों के लिए किसी विशेष आज्ञा को मानने की प्रतिज्ञा नहीं है। बौद्धमत का ध्येय था कि मनुष्य शारीरिक, आध्यात्मिक धार्मिक या सामाजिक सभी प्रकार की शृंखलाओं और बंधनों से मुक्त रहें। इसके अतिरिक्त बौद्धलोग अपने पड़ोसियों के धार्मिक या राजनीतिक मतों और सिद्धान्तों पर कोई दबाव डालने का प्रयत्न नहीं करते थे। 'लाइट आव एशिया' नामक ग्रंथ, जिसमें गौतमबुद्ध के जीवन तथा सिद्धान्तों का वर्णन है, के रचयिता एडविन आरनोल्ड बौद्धमत के संबंध में लिखते हैं कि 'यह मनुष्य की स्वतंत्रता का ऐसा महत्तम रूप है जैसा कभी उद्घोषित नहीं हुआ। १

हिन्दू तथा बौद्धधर्म बुद्धि पर कोई बंधन नहीं रखता।

---

१. बुद्ध और उनके सिद्धांत (Buddha and his Doctrine) पृ० १०१—१०८—११४

मनुष्य में जब तक सोचने की शक्ति हो सोच सकता है। विचार के लिए कोई दंड नहीं है सत्य की खोज में कोई निन्दा या पाखंड नहीं है। कोई वस्तु या ग्रंथ इतना पवित्र नहीं है कि उसकी आलोचना न की जा सके। ब्रह्म भयरहित है और हम ब्रह्म हैं इसलिए हम डरें क्यों? भारतीय विचार-धारा के अनुसार विचार की स्वतंत्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। उसका प्रयोग तथा उपयोग प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। इसीलिए कोई संप्रदाय कभी किसी के विचार-स्वातंत्र्य की निन्दा नहीं करता और न उसको उससे वंचित रखना चाहता है। क्या मन के इस दृढ़ भाव से निराशावाद का पता लगता है?

आठवाँ अध्याय

सांसारिक जीवन का ध्येय, उसकी आवश्यकता और नैतिक मूल्य

जीवन के प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों की पूर्ण व्याख्या तथा उनके अन्योन्याश्रय संबंध का वर्णन किया जा चुका है। यह भी दिखलाया जा चुका है कि एक मनुष्य के मानसिक तथा नैतिक विकास के लिए भौतिक जीवन कितना मूल्यवान और साभिप्राय है। अतः उपर्युक्त विषय पर विचार करने के लिए एक अलग अध्याय लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। फिर भी उसकी आवश्यकता और पूर्ण आशावादिता का आदर्श पाठकों को हृदयंगम करा देने के लिए यहाँ पर कुछ अधिक विवेचन करना अनुपयुक्त न होगा।

हिन्दूधर्म में सांसारिक जीवन का ध्येय और उसकी आवश्यकता

प्राचीन काल में प्रत्येक आर्य के लिए गृहस्थ जीवन पालन करने का जो धार्मिक अनुशासन था वह अकारण न था। विवाह और संतानोत्पत्ति करके वह जीवन में एक आवश्यक पाठ सीखता था। यदि कोई मनुष्य विवाह नहीं करता था और उसके एक-दो संतान उत्पन्न नहीं होती थी, तो वह पूर्ण मनुष्य नहीं समझा जाता था। मनु का वचन है कि 'पूर्ण मनुष्य वह है जो स्त्री और बाल-बच्चों से युक्त हो!' जो व्यक्तिगत और एकाकी जीवन बिताता है वह केवल उस वैवाहिक जीवन के सुख से ही वंचित नहीं रह जाता, जिससे उसकी भावुक प्रकृति विकसित और गंभीर होती है, बल्कि उसे उस उत्तरदायित्व का ज्ञान भी नहीं होता जो जीवन-व्यापार की पूर्णता के लिए नैतिक आदर्शों का उन्नायक तथा नई शक्ति और स्फूर्ति का उत्पादक होता है।

यदि दूसरों का ख़्याल और ध्यान, आत्मसंयम, आत्म-त्याग और प्रेमी के लिए निःस्वार्थ प्रेम एवं भक्ति सचमुच गुण समझे जाते हैं और इनसे मनुष्य की प्रशंसा होती है तो निस्संदेह गृहस्थ जीवन इन गुणों का पोषण-स्थान है। प्रत्येक गृहस्थ को ऐसे अनेक अवसर मिलते हैं जब वह इन सर्व-प्रधान गुणों को सीख और उनका अभ्यास कर सकता है। इनके बिना मनुष्य नैतिक विकास नहीं प्राप्त कर सकता।

एक अविवाहित पुरुष केवल अपनी ही भलाई सोचता है; वह स्वार्थी और अनुदार होता है। वही व्यक्ति जब विवाहित हो जाता है तो एकाकीपन को दूर कर देता है और अपने सुख-साधनों की अपेक्षा अपनी स्त्री और बाल-बच्चों के सुखों

का अधिक ध्यान रखने लगता है। यह केवल गृहस्थ जीवन ही है जहाँ अनेक प्रकार से मनुष्य को सर्वदा अपने सुख-साधनों की अवहेलना करनी पड़ती है और यहीं उसे स्वार्थ-त्याग का पहला पाठ पढ़ाया जाता है।

पूर्ण रूप से संस्कृत और सदाचारी व्यक्ति वह है जिसमें चेतना के तीनों रूप - ज्ञान, भाव और संकल्प—एक समान विकसित हों। एकांगी उन्नति से कार्य नहीं चल सकता।

साधारण मनुष्य के लिए इस प्रकार का अनुशासन है कि वह अपने कौटुम्बिक—पत्नी तथा अपत्य के प्रेम को क्रमशः पड़ोस, नगर, देश अथवा राष्ट्र तक विस्तृत करे। जो व्यक्ति अपने संबंधियों और पड़ोसियों की उपेक्षा करके केवल कुटुम्ब की भलाई सोचता है, वह अपने कर्तव्य-पालन को भुला देता है। उसे यह बात निश्चित रूप से जान लेनी चाहिए कि वह उन सभी मनुष्यों से अभिन्न रूप से मिला हुआ है जो जीवन में उसके संपर्क में आते हैं और उनके सहयोग के बिना वह इस संसार में उन्नति नहीं कर सकता।

गौतम बुद्ध का सर्वोत्तम उपदेश एक गाथा के रूप में है जिसमें उन्होंने सरल-हृदय गृहस्थ के उन प्रिय कर्तव्यों की प्रशंसा की है जिनका उसे अपने कुटुम्ब के प्राणियों, संबंधियों, मित्रों तथा अतिथियों के साथ पालन करना पड़ता है। एक अपरिपक्व युवक में भाव अस्फुट तथा विचार अनिश्चित होते हैं और वह अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व को भी भली भाँति नहीं समझता। जिस समय सांसारिक जीवन के विशाल अनुभवों के साथ वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है उस समय उसे जान पड़ता है कि आदर्श गृह के समान सुख और कहीं नहीं है; और ज्यों-ज्यों उसकी आत्मा के गुण उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उच्च से उच्चतर अवस्था पर पहुँचते हैं त्यों-त्यों

वह अनुभव करता है कि जीवन के अर्द्ध भाग अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग का परम ध्येय गृहस्थ जीवन अर्थात् आदर्श गृह है। मनु कहते हैं कि "गृहस्थ, ब्रह्मचारी से श्रेष्ठ है और वाणप्रस्थ लेकर वन में रहनेवाले से भी श्रेष्ठ है। इतना ही नहीं, वह संन्यासी से भी बढ़कर है, क्योंकि वही भौतिक (अन्न) तथा मानसिक आहार (ज्ञान) देकर सब का पालन-पोषण करता है।"

मनु द्वारा प्रतिपादित जीवन के सिद्धांत में सभी व्यापार और व्यवसाय गृहस्थ के अधीन हैं। वह सबका आधार होने के कारण सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। मनु कहते हैं—

"जैसे सब प्राणी (जीव) पवन के सहारे जीते हैं, वैसे ही गृहस्थ के सहारे सब आश्रम अपना निर्वाह करते हैं। वह सर्व-श्रेष्ठ है, क्योंकि वही सबको मानसिक (ज्ञान) तथा भौतिक (अन्न) भोजन देकर सबका पालन-पोषण करता है। जिस प्रकार सब छोटी छोटी नदियाँ और नद समुद्र में जाकर लीन हो जाते हैं उसी प्रकार प्रत्येक आश्रम या स्थिति के मनुष्यों का अंत गृहस्थ से मिलकर होता है। ब्रह्मचारी (विद्यार्थी), गृहस्थ, वाणप्रस्थ और संन्यासी—सब की उत्पत्ति गृहस्थ से होती है और वेद तथा स्मृतियों के सभी अनुशासनों के अनुसार इन चारों में गृहस्थ ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह सबका पालन करता है।"

मनु के जीवन-सिद्धांत में परिश्रमपूर्ण जीवन व्यतीत करना सबके लिए आवश्यक माना गया था। ब्राह्मण के लिए शारीरिक (भौतिक) विषयों में संतुष्ट रहने की आज्ञा अवश्य थी, परंतु दूसरों के हित के लिए ज्ञान की वृद्धि और निरंतर अध्ययन करते रहना उसके लिए आवश्यक था। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को भी अम्लान उत्साह और अथक परिश्रम

से अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। जब तक कोई विशेष कारण न हो तब तक गार्हस्थ्य जीवन का पालन करना और राष्ट्रीय परिश्रम में भाग लेना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य था। सुख के लिए नहीं, वरन् सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति का गृहस्थ बनना आवश्यक था। संसार में काम करने के लिए उपयुक्त एक समय था और उसी प्रकार उससे विरक्त होने के लिए भी एक उचित अवसर होता था। समाज को पूर्ण रूप से अति और अतिशयोक्ति से दूर रक्खा गया था। कुछ लोग कहते हैं कि मनु स्त्रियों का आदर नहीं करते थे; पर किसी भी शिक्षित राजनीतिज्ञ अथवा सम्राट् ने अपने नवीन राज्य में स्त्रियों के लिए वह व्यवस्था नहीं रक्खी जो मनु ने रक्खी है। वे कहते हैं—"दश उपाध्याय की अपेक्षा एक आचार्य और सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता गौरव में अधिक है और पिता की अपेक्षा माता सहस्रगुनी अधिक पूज्य है।"

कहा जाता है कि ईसा मसीह के एक नये अनुयायी ने कहा था, "बालक को प्रारंभिक सात वर्षों के लिए मुझे दे दो, फिर उसके बाद उसका तुम जो चाहो करो।" वह जानता था कि प्रारंभिक सात वर्षों में आत्मचरित्र पर जो छाप पड़ जाती है वह कभी मिटाए नहीं मिटती। इसीलिए मनु ने भी कहा है कि माता एक आचार्य से दस लाखगुनी बढ़कर है। प्राचीन संस्कृति में नारी का इस प्रकार सम्मान किया गया है। परंतु यह सम्मान 'माता' के प्रति प्रकट किया गया है; उन मर्दानी स्त्रियों के लिए नहीं, जो सुख और वासना की खोज किया करती हैं और घर का सारा कामकाज छोड़ बैठी हैं जैसा कि आजकल प्रायः देखने में आता है।

वल्लभाचार्य ने, जिनका जन्म पंद्रहवीं शताब्दी में हुआ था, वेदान्त का वैष्णव सम्प्रदाय चलाया और जीवन तथा

धर्म के संबंध में विरक्त और संन्यासी जीवन के विरुद्ध शिक्षा दी। वे सभी प्रकार के आत्म-दमन और क्लेशपूर्ण साधनों की निन्दा करते थे, क्योंकि ये उस पावन शरीर को नष्ट कर देते हैं जिसके भीतर परमात्मा का स्फुलिङ्ग वर्तमान है। मनुष्य इस संसार में कर्म करने के लिए पैदा हुआ है। संसार का रचयिता क्रिया की साक्षात् मूर्ति है। ब्रह्म क्रिया का प्रतिनिधि है और संसार में यदि उपयुक्त विचार और उचित कामना से प्रेरित होकर समुचित क्रिया का विकास नहीं होता तो इस भौतिक जीवन का कोई उपयोग ही नहीं रह जाता; कार्य ही सबका उद्देश्य है। संसार स्पृहणीय वस्तुओं से भरा पड़ा है। ईश्वर ने स्वयं उसे ऐसी वस्तुओं से पूर्ण कर दिया है जो हमारी इच्छाओं को जाग्रत् कर देती हैं। वह स्वयं प्रत्येक वस्तु में छिपा है और उसे आकर्षक रूप देता है। संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसके भीतर वह संसार का स्वामी निवास न करता हो। स्वयं उसी ने इन समस्त स्पृहणीय वस्तुओं को जगत् में सजा रक्खा है। इनकी उपस्थिति से इच्छाएँ जगती और प्रबल होती हैं। यदि मानवीय विकास में इच्छाओं का उपयोग और महत्त्व न होता तो हम इस पृथ्वी पर पैदा ही क्यों होते जिसमें हमें आकर्षित करने के लिए कोई वस्तु ही न थी। परंतु इन सुखदायक और दुःखद वस्तुओं से हमारे अंदर केवल अनुराग और विराग ही नहीं पैदा होते, वरन् उनसे विचार भी जाग्रत् होते हैं, क्योंकि हमारे और हमारी इच्छित वस्तुओं के बीच बाधाएँ उपस्थित कर दी गई हैं और इन बाधाओं को पार करने या उनसे बचने के लिए जीवात्मा के भीतर विचार जाग्रत् होते हैं। जब हम मानवीय विकास के क्रम की खोज करते हैं तब हमको पता लगता है कि विचार इच्छा से प्रेरित होते हैं। सभी

प्रबल विचार जो हमारे चारों ओर मनुष्यों में दिखाई पड़ते हैं, ऐसी मानसिक क्रियाएँ हैं जो इच्छा से प्रेरित हुई हैं। यदि ईश्वर ने अपने विश्व की रचना में कोई भूल नहीं की तो इच्छा पैदा करनेवाली इन सभी वस्तुओं का कोई अभिप्राय अवश्य होगा और उन बाधाओं के उपस्थित करने में भी उसका कुछ उद्देश्य अवश्य होगा जिनके कारण विचार का संचालन अनिवार्य हो जाता है। इच्छा और विचार कर्म की अभिप्रेत और प्रेरक तथा निर्देशक शक्तियाँ हैं। इच्छा के बाद विचार और विचार के बाद कर्म आता है, और कर्म उनका (इच्छा और विचार का) स्वाभाविक परिणाम है। उपर्युक्त विवेचन से हमको ज्ञात होगा कि सभी वस्तुओं का ऐसा प्रबंध किया गया है कि क्रिया (कर्म) जाग्रत् हो, क्योंकि भगवान् कृष्ण स्वयं गीता में कहते हैं 'कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है।" (गीता ३, ८) इससे प्रकट है कि इच्छा द्वारा मनुष्य को कर्म करने के लिए प्रोत्साहित और प्रेरित किया जाता है।

आखिर श्रीकृष्ण ने कर्म पर इतना अधिक ज़ोर क्यों दिया है? यदि हम गीता के तीसरे अध्याय को, जिसे कर्म-योग कहते हैं, देखें तो इसका कारण स्पष्ट हो जायगा। उसमें लिखा है कि "सभी कुछ कर्म पर निर्भर है। अन्न से भूतों (जीव) की उत्पत्ति होती है, और मेघ से अन्न की; मेघ यज्ञ से पैदा होते हैं और यज्ञ कर्म से। कर्म की उत्पत्ति स्वयं ब्रह्म से जानो।" (गीता १४, १५) जीवन की शृंखला, भूतमात्र की उत्पत्ति तथा जो कुछ संसार में है, सभी कर्म पर निर्भर है। क्या गीता में यह नहीं लिखा है कि "योग चाहने वाले मुनि के लिए कर्म ही साधन कहा गया है" (गीता ६, ३) और "उसी योगी के लिए जब वह योगारूढ़

हो जाता है, शान्ति साधन माना गया है"; पर क्या शान्ति का अर्थ है कर्म न करना ? नहीं, वरन् इसके विपरीत थोड़ी दूर और आगे पढ़ने पर हमें एक श्लोक में शान्त योगी के लिए लिखा मिलता है कि "मेरे साथ कर्म करता हुआ वह प्रत्येक कर्म को आकर्षित बना दे।" (गीता ३, २६) अतः कर्म के महत्व की यह शिक्षा हमें क्रमपूर्वक मिलती है—पहले कर्म, तब शांति, तब शांत कर्म। कर्म की आवश्यकता का कारण इसी अध्याय में सविस्तर वर्णित है, जिसमें कहा गया है कि "जिस प्रकार अज्ञानी कर्म में आसक्त होकर कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्यों को लोक-संग्रह की भावना या संसार के हित की अभिलाषा से अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए। किसी ज्ञानी पुरुष को उस अज्ञानी की बुद्धि में भेद या चित्त में अशांति नहीं पैदा करनी चाहिए जो कर्म में आसक्त हो।"

अब प्रश्न यह उठता है कि स्वयं ईश्वर का कर्म किसके आश्रित है ? श्रीकृष्ण के रूप में भगवान् गीता में कहते हैं कि "हे पार्थ ! तीन लोक में ऐसा कुछ भी नहीं है जो मुझे करना चाहिए, न कोई ऐसी अप्राप्य वस्तु है जिसे मुझे प्राप्त करना चाहिए; फिर भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ। यदि मैं अश्रान्त रूप से अनवरत कर्म में लगा न रहूँ तो हे पार्थ, मेरे चारों ओर के लोग मेरे ही रास्ते पर चलने लगेंगे। यदि मैं कर्म न करूँ तो यह संसार विनाश को प्राप्त हो जायगा और मैं वर्णसंकर का कर्ता तथा इन जीवों का विनाशक होऊँगा।" (गीता २३-२४) यही एक वाक्य वास्तव में उचित कर्म का मूल है। उचित कर्म का अर्थ है विश्व-बुद्धि के साथ सहयोग। यही उच्चतम मार्ग है और यही समस्त शिक्षा तथा प्रयत्न का लक्ष्य होना चाहिए। ईश्वरीय संकल्प

बड़ी बुद्धिमानी से सबके हित के लिए कार्य करता है। जिस समय जो कर्तव्य हो उसे बड़ी लगन से पूरा करना चाहिए।

बौद्ध मत में सांसारिक जीवन का ध्येय और उसकी आवश्यकता

सम्राट् अशोक वचन और आचरण (कर्म) दोनों से परिश्रमपूर्ण जीवन के बड़े भारी समर्थक थे। उनके प्रथम शिलालेख में राजाज्ञा थी कि 'छोटे और बड़े सब कर्मशील बनें' और उसके बाद अन्य शिलालेखों में भी वे शक्ति और स्फूर्ति की आवश्यकता पर बार-बार ज़ोर देते हैं। उनके शिलालेखों में जिस धर्म का अनुशासन पाया जाता है वह केवल मानव और नागरिक गुणों का समूह है। हाँ, अंतर इतना ही है कि उसके अनुसार जीवों पर दया करना सदाचार का एक पूर्ण अंग है। एक स्थल पर सम्राट् ने अपने धर्म का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया है—"अपवित्रता का अभाव अनेक अच्छे कार्य, दया, उदारता, सत्यता और शुद्धता।" 'सच्चा उद्योग' बौद्ध धर्म के अष्टांग मार्ग का एक भाग है और जिस ढंग से इसकी व्याख्या की गई है उससे जान पड़ता है कि शक्ति का निरंतर उपयोग करते रहना आवश्यक है। शक्ति का प्रयोग और उपयोग भौतिक संसार को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता; अतः सांसारिक या भौतिक जीवन का अपना मूल्य और महत्त्व है।

समाजसेवा

यह कहा जाता है कि हिन्दू स्वार्थी होते हैं—वे केवल अपनी व्यक्तिगत भलाई और मुक्ति का ही ध्यान रखते हैं; अपने पड़ोसियों की भलाई तथा उनकी सामाजिक, राजनीतिक

तथा नैतिक उन्नति से उनका (हिन्दुओं का) कोई संबंध नहीं रहता। इस अनधिकार चेष्टा से बढ़कर सत्य से परे कोई बात न मिलेगी। भारतीय विचारधारा का प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय विश्व की एकता और आत्मा की ईश्वरता में विश्वास रखता है। सभी आध्यात्मिक आचार्य अपने शिष्यों को यही शिक्षा देते हैं कि परोसियों से प्रेम करो और सभी प्राणियों को उतना ही प्यार करो जितना अपने को करते हो; क्योंकि प्राणिमात्र एक ही जीवन के अंश हैं और सबका अन्योन्याश्रित संबंध है। जैसे शरीर के किसी एक अंग में चोट लग जाने से सारे शरीर को कष्ट होता है वैसे ही एक व्यक्ति को हानि पहुँचने अथवा चोट लगने से दूसरे भी उसका अनुभव करते हैं। निष्काम और अनासक्त होकर दूसरों के लिए कार्य करने का एक दूसरा कारण यह भी है।

कोई मनुष्य, जब तक अहंकार और स्वार्थ से मुक्त नहीं होता, पूर्ण नहीं हो सकता। स्वार्थ-वृत्ति को जीतने के लिए अनेक स्वीकृत मार्गों में सेवा भी एक मार्ग है।

प्रत्येक व्यक्ति समाज का ऋणी है। उसके ऊपर कुटुम्ब, जाति तथा देश का ऋण है। उसकी उन्नति और विकास बहुत कुछ उसके साथियों की सम्मति और सहयोग पर निर्भर है। जब तक वह इन ऋणों को पाई-पाई नहीं चुका लेता, वह जन्म और मृत्यु के चक्र से नहीं छूट सकता। प्रत्येक हिन्दू मोक्ष की अभिलाषा रखता है और वही उसके प्रयत्नों का लक्ष्य है, परंतु कार्मिक ऋणों से उऋण हुए विना उसको प्राप्त करना संभव नहीं है और कार्मिक ऋणों से छुटकारा पाने के लिए निरंतर कर्म में लीन रहना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त, ईश्वर के साथ एकता प्राप्त करने के लिए कर्मयोग भी एक मार्ग है। यदि संसार का कोई कर्मशील

और उद्योगी पुरुष आध्यात्मिक पूर्णता के मार्ग पर चलना चाहता है तो उसके लिए संसार का त्याग करना और कर्म से विमुख होना आवश्यक नहीं है। हिन्दू जीवन का यह ध्येय कभी नहीं रहा और जो लोग इसके विपरीत सोचते हैं उन्होंने हिन्दू जीवन के सिद्धांतों को समझ नहीं पाया।

जो दूसरों के जीवन में अपना जीवन नहीं समझता वह आध्यात्मिक सिद्धि के मार्ग पर नहीं चल सकता।

नैतिक मूल्य

हिन्दूधर्म में नैतिक मूल्य

प्राचीन भारतीय विचार-धारा में नीतिशास्त्र बड़े-छोटे के बीच उचित व्यवहार का विज्ञान है। यह उन मनुष्यों के लिए है जो विकास की विविध अवस्थाओं में स्थित हैं और एक दूसरे से कितनी ही बातों में भिन्न हैं; जो मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से संस्कृति और विकास के एक स्तर पर नहीं हैं। उनके भाव, विचार, आदर्श और जीवन के दृष्टिकोण भिन्न होते हैं, अतः उन सबके लिए नीति शास्त्र एक-सा व्यवस्था कर सकने में असमर्थ है।

जिस प्रकार इस संसार में प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक दूसरी वस्तु के साथ सापेक्ष संबंध है, उसी प्रकार नीति शास्त्र को भी सापेक्ष होना चाहिए, अन्यथा उसकी बन्धन-शक्ति ढीली पड़ जायगी। एक छोटे बालक के लिए जो उचित है वही किसी प्रौढ़ के लिए उचित नहीं हो सकता। एक अविकसित तथा असभ्यमनुष्य के जीवन में जिस बात की उपेक्षा की जा सकती है वही एक ऋषि अथवा तत्त्वदर्शी विद्वान् के जीवन में अक्षम्य समझी जाती है; क्योंकि दोनों उन्नति और विकास के भिन्न स्तर पर स्थित हैं। इतिहास द्वारा प्रमाणित हो चुका है

कि मनुष्य की मानसिक स्थिति और बुद्धि समय और स्थान के अनुसार बदला करती है। भारतीय विचारधारा के प्रतिपादकों और व्याख्याकारों ने इस वास्तविकता को पूर्ण रूप से स्वीकार किया है कि मानवीय जीवन के विकास में विभिन्न नैतिक श्रेणियाँ और अवस्थाएँ होती हैं। अब इसके बौद्धिक और नैतिक संबंध की विवेचना की जाती है।

जितने एक जीवन के भागी हैं, एक ही अंशी के अंश होने के कारण उन सबका स्वाभाविक विकास और आनंद अनिवार्य रूप से इसी में है कि वे उस जीवन के साथ या संगति में चलें जिसके वे अंश हैं। असंगति या अनमेल दुःख का कारण है; केवल संगति में शांति और सुख प्राप्त हो सकता है। और जिस क्षण हमें यह बोध हो जाता है कि जीवन एक है, जैसा कि श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं, "मैंने अपने एक अंश से इस विश्व की स्थापना की और मैं शेष बना हूँ," उसी क्षण हमको निश्चय हो जाता है कि अंश को पूर्णता और आनंद केवल अपने अंशी के साथ चलने में ही प्राप्त हो सकते है। वारम्बार हमें यही बतलाया गया है कि हमारे चारों ओर जो विश्व स्थित है उसके ही साथ चलने से मनुष्य की उन्नति हो सकती तथा उसको सुख और शांति मिल सकती है।

मनुष्यकृत नियम मनुष्य द्वारा बदले भी जा सकते हैं। वे प्राकृतिक नहीं, वरन् कृत्रिम हैं। परंतु प्रकृति का नियम कोई आदेश नहीं है। यह तो वस्तुओं के अंतरतम तत्व का व्यक्त रूप है, केवल जिसके अनुसार ही वे कार्य करने में समर्थ हैं, केवल जिसके अनुसार ही उनका एक दूसरे पर विविध प्रभाव पड़ता है। प्राकृतिक नियमों के अन्वेषण के लिए हमें प्रकृति का अनुशीलन करना और पता लगाना है

कि वे क्या हैं, और इस अनुशीलन में मनुष्य को ऋषियों और मुनियों द्वारा बड़ी सहायता मिलती है। जो आत्मा की दिव्य ज्योति के दर्शन पा चुके थे उन दिव्यदर्शी महात्माओं ने हमें उन मूल प्राकृतिक नियमों का ज्ञान कराया जिनका हम उल्लंघन नहीं कर सकते। हम मनुष्यकृत नियमों को तोड़ सकते हैं, परंतु प्राकृतिक नियमों के तोड़ने की हममें सामर्थ्य ही नहीं है; उनकी तो केवल उपेक्षा की जा सकती है और उनकी उपेक्षा करने का अर्थ है दुःख भोगना और बारम्बार दुःख से घबराकर मनुष्य उन अनुल्लंघनीय नियमों के अनुसार चलने लगता है जिनके बीच वह रहता है।

इसको आधार रूप मान लेने के पश्चात् देखना है कि दूसरी अवस्था क्या है! संसार का विकास एक साधारण दशा से जटिलता की ओर बढ़ता जा रहा है; वैज्ञानिक ढंग से हम हर्बर्ट स्पेन्सर के शब्दों में कह सकते हैं कि संसार एक सत्त्व (homogeneity) से विविध तत्व (heterogeneity) की ओर जा रहा है। दार्शनिक या धार्मिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि दैवी बीज, जिसे ईश्वर ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए आरोपित किया था, प्रस्फुटित होकर धीरे-धीरे ईश्वरत्व के समान रूप धारण कर रहा है। विकास का यही महान् चक्र है जो एक जीवन से प्रारंभ होकर फिर उसी में लौट आता है, और अपनी निरंतर यात्रा के परिणामस्वरूप अनुभव प्राप्त करता रहता है। ऋषियों ने इस चक्र को दो भागों में बाँटा है। एक भाग को उन्होंने प्रवृत्ति मार्ग कहा। यह चक्र का वह भाग अथवा जीवन का वह मार्ग है जिसमें जीवात्मा स्थूल जगत् में जाता है, उन्नति के लिए निरंतर ग्रहण करने के उद्योग में लगा रहता है, जो कुछ ग्रहण करता है उसे आत्मसात् करता है और उन शक्तियों को विकसित

करता है जो उसके भीतर ही प्रस्फुटित हो रही हैं। जब जीवन का यह अर्द्ध भाग या चक्र पूरा हो जाता है, जब अनुभव प्राप्त हो जाते हैं, तब, ऋषियों का कहना है कि, वह समय आता है जब लौटने का रास्ता अथवा निवृत्ति मार्ग प्रारंभ होता है। हम मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को अर्थात् जन्म और मृत्यु तथा निरंतर जन्म और पुनर्जन्म के चक्कर को दो भागों—प्रवृत्ति और निवृत्ति—में बाँट सकते हैं।

अस्तु, प्रवृत्ति मार्ग की नीति निवृत्ति मार्ग की नीति से भिन्न होती है; परंतु हमारे उचित और अनुचित का मापदंड, जिसका दैवी संकल्प के साथ सामंजस्य स्थापित है, दोनों ही मार्गों में एक सा बना रहता है। यद्यपि मनुष्य जिस मार्ग पर चलेगा उसी के अनुसार उसका कार्य भी भिन्न होगा, परंतु चलना उसको दैवी इच्छा के अनुकूल ही होगा, मार्ग चाहे कोई भी हो। एक मार्ग में वह ग्रहण करता है और दूसरे में बाह्य वस्तुओं को इसलिए छोड़ता चलता है उसके अभ्यंतर में दिव्य तेज का विकास हो। जो उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

अब हमें हिन्दू धर्म की अन्तिम सुंदर व्यवस्था—आश्रम चतुष्टय की व्याख्या करनी है जिसमें स्थूल शरीर से अलग जीवात्मा का विवेचन नहीं है, वरन् एक व्यक्ति के जन्म से मृत्यु तक के जीवन का विभाजन है। यह आश्रम-चतुष्टय की व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था से मिलती-जुलती है। बिना दूसरे के एक अकेला पूर्ण नहीं है। यह एक महान दुहरी व्यवस्था है; जिसमें हम देखते हैं कि शूद्रों का जीवन ब्रह्मचारियों के समानान्तर चलता है। ब्रह्मचारी को आज्ञापालन, सेवा और कर्तव्य-पालन के गुण विकसित करने पड़ते हैं (जो शूद्रों के लिए भी आवश्यक हैं)। उसे अपने आश्रम का पाठ पढ़ना

पड़ता है। तब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है जहाँ वह पक्का वैश्य बनता है। अन्य सब आश्रम उसके आश्रित होते हैं, वह। उनका भरण-पोषण करता है और उस गृहस्थ जीवन में उसके लिए जो अच्छे गुण कहे जाते हैं वे ब्रह्मचारियों के गुणों से भिन्न हैं। गृहस्थाश्रम में जब वह सभी प्रकार के अनुभवों को प्राप्त कर लेता है, अपने कर्तव्यों का पालन कर चुकता है, तब सांसारिक झगड़ों से मुक्त होकर वह तीसरे आश्रम में प्रवेश करता है जहाँ वह अपने से छोटों को परामर्श देता रहता है। वह सांसारिक काम-धंधों में स्वयं नहीं फँसता, वरन् उनको उन लोगों के लिए छोड़ देता है जो उन्हें करने के योग्य हैं और अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। इस आश्रम के कार्य क्षत्रियों के कर्तव्यों के समानांतर चलते हैं। तब अंतिम आश्रम आता है जो ब्राह्मणत्व का समानान्तर माना जा सकता है और जिसमें सन्यासी समस्त अनुभवों से युक्त होकर संसार को छोड़ देता है और मृत्यु के उस पार—परलोक के जीवन के लिए प्रस्तुत होता है।

विकास के संबंध में हिन्दुओं की धारणा इस प्रकार सुव्यवस्थित है और यही कारण है कि इसके संबंध में कहा जाता है कि इतनी व्यापक और सुन्दर व्यवस्था अन्य किसी जाति (राष्ट्र) को कभी प्राप्त नहीं हुई। इसमें कोई भी त्रुटि नहीं है, कोई भी ऐसा नैतिक प्रश्न नहीं है, जिसका मानवीय विकास के इस सिद्धांत द्वारा किसी न किसी भाग में समाधान न हो जाता हो। यदि हमें इस व्यवस्था की रूप-रेखा का बोध हो जाय तो हमें शीघ्र ही पता लगेगा कि सम्पूर्ण नीति-शास्त्र सापेक्षिक है, अर्थात् मनुष्य के लिए किसी विशेष अवसर पर क्या करना उचित है और क्या नहीं करना चाहिए, यह

विकास-क्रम में उसकी विशेष अवस्था पर निर्भर है : गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं, "अपना धर्म (स्वधर्म) चाहे गुणों से रहित हो, परधर्म से, चाहे वह भली भाँति पालन किया गया हो, श्रेष्ठतर है। अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना भी श्रेष्ठतर है, (परंतु) परधर्म भयावह है।" (गीता ३.३५)

अतीत के नियम से प्रकट हो जाता है कि वह (मनुष्य-विशेष) कहाँ है; वह नियम जिसके अनुसार वह आचरण करता है, इस बात का पता देता है कि उसे कहाँ होना चाहिए, और यदि वह अपने धर्म का पालन करता रहा तो जीवन में किस स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए एक साधारण व्यक्ति को ले लीजिए। वह विद्यार्थी की भाँति जीवन आरंभ करता है। हिन्दू नीति-शास्त्र के अनुसार विद्यार्थी का कर्तव्य क्या है ? इसको याद रखना चाहिए कि स्मृतिकार मनु ने मनुष्य के संबंधों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। हमारे चारों ओर तीन प्रकार के लोग मिलेंगे—बड़े, छोटे और बराबर। यह वर्गीकरण अत्यंत पूर्ण है। जिन लोगों से हमारा सम्पर्क होता है वे या तो हमसे बड़े होते हैं, या छोटे या हमारे बराबर और उसी संबंध के अनुसार उनसे व्यवहार करने में हमारे गुणों में हेरफेर करना पड़ता है। प्रवृत्ति मार्ग में अपने कर्तव्यों को विस्तारपूर्वक जानने के लिए सबसे उत्तम मार्ग यह है कि हमें जो कुछ न्यायपूर्वक मिल सके उसे संचित करना अपना कर्तव्य समझें।

कभी कभी लोग कहते हैं कि हमको निष्काम कर्म करना चाहिए। यह सत्य है, परंतु केवल निवृत्ति मार्ग के लिए। परंतु जब तक अपने में इतनी शक्ति विकसित न हो जाय कि फल की कामना छोड़ कर भी हम अपने कर्तव्य पर डटे रह सकें, तब तक फल की कामना छोड़ देने से बढ़कर घातक और

कोई दूसरी वस्तु नहीं हो सकती। देखिए इसका क्या परि-णाम होता है। नीति शास्त्र के इस मत को अधिकांश लोगों ने ठीक नहीं समझ पाया। पाश्चात्य विद्वानों, विशेषकर ईसाई पादरियों ने, जो 'निरपेक्ष नीति' पर अधिक ज़ोर देते हैं, इस सापेक्ष नीति की कड़ी आलोचना की है। भारतीय तत्त्ववेत्ताओं का विचार है कि निरपेक्ष नीति एक अत्यंत दार्शनिक सिद्धांत है जिसका अनुसरण नहीं किया जा सकता। निरपेक्ष नीति का कोई अस्तित्व नहीं है और यदि कहीं हो सकती है तो केवल एक (अद्वैत) में हो सकती है, परंतु वहाँ छोटे-बड़े का कोई संबंध ही नहीं है, अतः नैतिक सिद्धांत भी नहीं है। हम सब सापेक्ष हैं और इससे बाहर नहीं जा सकते। उन सभी वस्तुओं के साथ हमारा संबंध है जो हमारे चारों ओर हैं—मनुष्य के साथ, पशुवर्ग के साथ, समस्त वनस्पति और खनिज पदार्थों के साथ और जिस संसार के हम एक अंश हैं उसके भीतर रहने वाली प्रत्येक वस्तु से हमारा संबंध है। कोई वस्तु उससे बाहर नहीं हो सकती; क्योंकि हम विकासरूपी उस बृहत्शृंखला के, जो एक लोक से दूसरे लोक तक फैली हुई है, एक अंश हैं। अतः संबंध शब्द के ठीक अर्थ के अनु-सार हम सब सम्-बद्ध हैं। अच्छा, अब प्रवृत्ति मार्ग की प्रारंभिक अवस्था पर ध्यान दीजिए। उदाहरण के लिए किसी साधारण व्यक्ति को ले लीजिए जो प्रवृत्ति मार्ग का अनुयायी हो। अब देखना यह है कि उसके विकास का नियम क्या है? इसका पता हमको उससे लगेगा जिसे हिन्दू शास्त्रों ने उसका 'धर्म' कहा है। कर्तव्य जैसे दरिद्र शब्द को हम 'धर्म' का पर्यायवाची नहीं कह सकते। 'धर्म' शब्द से हमें विकास की उन सीढ़ियों का बोध होता है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी वर्तमान अवस्था पर पहुँचा है। यह पहला

भाव है कि विकास की पिछली अवस्थाओं से उसकी (मनुष्य की) वर्तमान दशा का अनुमान होता है। इसके पश्चात् उसका 'धर्म' है जिसके द्वारा वह विकास-क्रम में आगे पैर बढ़ाता है।

यह भाव हिन्दू धर्म में लुप्त नहीं हुआ। यह तो सेमेटिक आधार पर विकसित हुए धर्मों में लुप्त है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए, चाहे वह संत हो या असंत, महात्मा हो या साधारण व्यक्ति, सबके लिए एक ही नैतिक व्यवस्था है, सबको एक ही लाठी से हाँका गया है। नतीजा यह होता है कि वह किसी के लिए भी उपयुक्त नहीं हो पाता।

यदि साधारण मनुष्य अपने परिश्रम का फल नहीं चाहता तो उसका परिणाम क्या होता है? वह कुछ भी काम नहीं करता, उसका कोई प्रयोजन ही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को काम करने के लिए कोई प्रयोजन चाहिए, अन्यथा वह निकम्मा हो जाता है। अगर किसी को भूख लगी है तो वह भोजन के लिए प्रयत्न करेगा। परंतु जिसे कोई प्रयोजन या आवश्यकता ही नहीं है, वह एक लकड़ी के लट्ठे की तरह बेकार पड़ा रहेगा। आखिर, ईश्वर ने हमारे चारों ओर एक से एक सुन्दर वस्तु क्यों सजा दी है? इसलिए कि वह चाहता था कि हम अपनी शक्तियों का प्रयोग और विकास करें। मा अपने बच्चे को चलना कैसे सिखाती है? वह बच्चे को गोद में लेकर इंजनों के चलने और चलाने का सिद्धांत नहीं बताती वरन् उसे ज़मीन में खड़ा कर देती है और एक खिलौना दिखाती हुई आगे चलती है और इस प्रकार उसे चलने का अभ्यास कराती है। बच्चा खिलौना पकड़ने की कोशिश करता हुआ चलना सीखता है। यदि खिलौना न दिखाया जाता तो बच्चा चलने का प्रयत्न ही न करता। जब तक मा उसे न उठाती, वह

एक ही स्थान पर बैठा रहता और उसको कभी चलना आता ही नहीं। ईश्वर भी ठीक इसी प्रकार हमारे साथ व्यवहार करता है। वह हमारे सामने रुपया, पैसा, यश और मान, ऐश्वर्य और प्रभुता रखता है और बच्चे जैसे अपने स्नायु-तंतुओं का प्रयोग करके खिलौना पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी अभीप्सित वस्तु पाने के लिए अपने गुणों और शक्तियों का विकास करता है। वह अपनी बुद्धि को और तेज़ करता है, तरकीबें सोचता है, उपाय करता है—अर्थात् अपनी चाही हुई वस्तु पाने के लिए तरह-तरह के नाच नाचता है और इस प्रकार अपनी शक्तियों का विकास कर वह उसको प्राप्त कर लेता है। प्राप्त कर लेने पर उसको उससे थोड़ी ही देर तक तृप्ति होती है। ईश्वर अपनी संतान को इसी प्रकार शिक्षा देता है। जब हम उस अवस्था को प्राप्त होते हैं, जब साधारण हित के लिये किये गये कर्मों को सकाम कर्म के समान ही लगन और परिश्रम से करते हैं तभी हम फल की इच्छा छोड़ सकते हैं। परंतु इस अवस्था को प्राप्त होने से पहले ईश्वर हमारे सामने अनेक अभिलषित वस्तुएँ रखता है जो हमें अपनी ओर आकर्षित करती हैं, जिससे हम कार्यान्वित होते हैं और हमारी उन शक्तियों का विकास होता है जो अन्यथा अविकसित ही रह जातीं।

चर अथवा अचर कोई भी भूत प्राणी ईश्वर से परे नहीं है। उसके अतिरिक्त कोई प्रेम नहीं है। प्रत्येक सौन्दर्य, प्रत्येक आकर्षण, जो हम किसी वस्तु में देखते हैं, वह उस वस्तु में ईश्वर का रूप है जो हमारी आत्मा को—सभी वस्तुओं में छिपी हुई उस एक महान् आत्मा को—पुकार रही है। इसी प्रकार विकास का क्रम चलता रहता है, शक्तियों का विकास होता रहता है। अस्तु, मनुष्य को चाहिए कि जब

तक वह प्रवृत्ति मार्ग में रहे, कामनाओं से पूर्ण रहे, तभी वह उन्नति कर सकता है।

हमारे कर्मों का औचित्य और अनौचित्य उन अवस्थाओं पर निर्भर है जिनमें हम स्थित हैं और जिनकी ओर बढ़ रहे हैं। यह एक सीढ़ी के समान है। यदि हम सीढ़ी के मध्य भाग में स्थित हैं तो हमसे नीचे की सीढ़ियाँ हमारे लिए पहले की अपेक्षा निकृष्ट समझी जायँगी, परंतु जो मनुष्य नीचे की सीढ़ी पर स्थित है उसके लिए वे ही सीढ़ियाँ (जो हमारे लिए निकृष्ट हैं) ऊपर की सीढ़ियाँ होंगी और उसे विकास की उत्कृष्ट सीढ़ी पर ले जायँगी। इस विकास की सीढ़ी पर हमको नित्य ऊपर चढ़ते रहना चाहिए; परंतु यदि हमने उन्नत अवस्था प्राप्त कर ली है तो हमको यह भूलकर भी न समझना चाहिए कि जो हमारे लिए अनुचित है वह हमारे अपेक्षाकृत कम विकसित पड़ोसी के लिए भी अनुचित होगा। यह हिन्दू नीति-शास्त्र के अनेक महान् उपदेशों में से एक उपदेश है।

अब प्रश्न यह है कि निवृत्ति मार्ग पर चलनेवाले मनुष्य के लिए नीति-शास्त्र में परिवर्तन कैसे होता है ? उस मनुष्य का, जो ईश्वरोन्मुख और अपने घर (स्थान) को लौट रहा है जहाँ से उसने प्रारंभ किया था, बाह्य जगत् पर कोई अधिकार नहीं है। बाह्य संसार के प्रति उसका एक यही कर्तव्य है कि प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए अनेक जन्म-जन्मांतर में उसने संसार से जो ऋण लिया था उससे उऋण हो जाय। वह इन कई जन्मों में दूसरों का बहुत ऋणी हो गया था। घर की ओर (जहाँ से वह आया है वहाँ) लौटते समय उसको सभी ऋण चुकाना है। यह निवृत्ति मार्ग का जीवन त्याग का जीवन है, जिसमें आत्मा को बंधनों से मुक्त करना होता है। अतः जो मनुष्य इस मार्ग पर चलता है अर्थात् वानप्रस्थ

आश्रम से प्रारंभ करके सन्यास अवस्था में पूर्ण रूप से निवृत्ति मार्ग का पथिक है, वह संसार की किसी भी वस्तु पर कोई अधिकार नहीं रखता।

कल्पना कीजिए कि एक कुटुम्ब है जिसका पिता देखता है कि एक विषधर सर्प उसके कुटुम्ब के निकट आ रहा है। इस समय उसका कर्तव्य है कि वह अपने कुटुम्ब की रक्षा करे। उसको चाहिए कि साँप को किसी तरह दूर करे और यदि कोई दूसरा चारा न हो तो उसे मार डाले। पिता के सम्मुख कुटुम्बियों के प्राणों की अपेक्षा सर्प के जीवन का मूल्य बहुत कम है। परंतु मान लीजिए कि वह सर्प एक सन्यासी को काटने जा रहा है; इस समय उसको (सन्यासी को) सर्प की हत्या करने का अधिकार नहीं है। दोनों (सन्यासी और साँप) में एक ही प्राण है। उसने (सन्यासी ने) अपने जीवन को एक व्यापक जीवन में मिला लिया है, अतः वह अपने एक अंश की रक्षा के लिए दूसरे अंश का विनाश नहीं कर सकता। यदि उसे चोट पहुँचती है तो उसे बदला लेने का अधिकार नहीं है। उसके लिए तो यह आघात एक पिछला कर्म है जो लौटते समय उसे प्राप्त हुआ है। यह उसका ही पिछला व्यक्तित्व है जो इस समय उस पर चोट पहुँचाने के लिए तैयार है। उसने किसी आदमी को चोट पहुँचाई थी, वही आदमी इस समय उसे चोट पहुँचा रहा है। उसको प्रत्याघात करने का अधिकार नहीं है। सन्यासी का जीवन पूर्ण विरक्ति का जीवन है, अतः उसकी नीति सांसारिक मनुष्यों की नीति से भिन्न होती है।

बाइबिल में 'पर्वत की चोटी पर उपदेश' (Sermon on the mount) की ओर ध्यान दीजिए। उसमें लिखा है "यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे तो तुम दूसरा भी

उसकी ओर कर दो; यदि कोई तुमसे एक मील साथ चलने को कहे तो तुम दो मील साथ चले जाओ; यदि कोई तुम्हारा कोट ले जाता है तो तुम उसे अपना ओवरकोट भी दे दो।" यह उपदेश किसके लिए उपयुक्त है? केवल एक सन्यासी के लिए। पूर्णता प्राप्त करनेवाले व्यक्ति के लिए यह एक पूर्ण सत्य की शिक्षा है। परंतु एक सांसारिक व्यक्ति के लिए यह असंभव और असाध्य है।

ये वे हिन्दू नीतिशास्त्र के कुछ मुख्य सिद्धांत हैं जिनके आधार पर हमारे समूहगत और व्यक्तिगत सभी नैतिक आचार स्थित हैं। बिना इनको समझे हुए हम उन विरोधी नैतिक आदेशों का मूल्य नहीं समझ सकते जो हिन्दू धर्म में पाये जाते हैं और न यही समझ सकते हैं कि सदाचार का बंधन हमें किस सीमा तक बाँध सकने में समर्थ है। सदाचार और आध्यात्मिकता एक ही हैं; क्योंकि दूसरे का क्षेत्र और कार्य पहले से भिन्न नहीं है, और सदाचार के नियमों का पूर्णतः पालन किये बिना, हिन्दू शास्त्रों के अनुसार कोई व्यक्ति आध्यात्मिकता नहीं प्राप्त कर सकता।

यहाँ पर एक साधारण प्रश्न उठ सकता है कि 'हम सदाचारी बनें ही क्यों?' मनुष्य का भीतर बाहर एक समान होना चाहिए और उसके जीवन में उसके वास्तविक प्रकाश की झलक होनी चाहिए। प्राचीन हिन्दू शास्त्रों में बतलाया गया है कि मनुष्य की अन्तरतम आत्मा जीवन, ज्योति और प्रेम है। यह नित्य, दयालु, न्यायी, सम, स्वतंत्र, सामंजस्ययुक्त, दृढ़, गंभीर और शुद्ध इत्यादि है। इन गुणों को कार्य रूप में प्रकट करना चाहिए और इस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे जान पड़े कि अतिरिक्त जीवन एक सत्य और वास्तविक तथ्य है। यही वह दार्शनिक कारण है जिसके लिए

कहा जाता है कि आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त करने से पूर्व मनुष्य का उच्च आचार-विचार से रहना चाहिए। इसी आधार पर आर्य जाति के प्रायः सभी धर्मों ने जो आज भी आभ्यंतरिक शिक्षा को सुरक्षित रखते हैं, नैतिक आत्म-संयम का कठिन मार्ग निर्धारित किया है, जिनका अनुसरण करना प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के लिए आवश्यक है जो इस मार्ग पर सफलता प्राप्त करना चाहता है। विविध धर्मों ने अनेक प्रकार के धार्मिक संस्कार और उत्सव, व्रत और जागरण, साधना और तप आदि का निर्देश किया है। उनका उद्देश्य केवल यही है कि नवागंतुक या नवदीक्षित व्यक्ति इनके द्वारा आलस्य से दूर रहे, इच्छा और मनोविकारों को संयमित रक्खे, अपने भावों और विचारों पर शासन रख सके और अपनी अनुचित शारीरिक प्रवृत्तियों को दबा सके। इस प्रकार समय पाकर, मनुष्य के बाह्य आवरण के, भीतर छिपे हुए वास्तविक मनुष्य का असली रूप झलकने लगेगा और आत्मा की सुंदरता प्रकट हो जायगी। नैतिक संस्कृति की शिक्षा देने का यही उद्देश्य और ध्येय है। अपने कर्मों में सदाचार पालने का एक दूसरा कारण उस आत्मा की एकता में मिलेगा जिसके किरण अथवा अंशरूप हम लोग हैं। पड़ोसी से प्रेम करना अपने से प्रेम करना है; क्योंकि उसके अंदर भी वही आत्मा है जो अपने अंदर है। अपने किसी भाई को दुःख पहुँचाना अपने को ही दुःख पहुँचाना है। यदि हम किसी भूले भटके को ठगते हैं तो अपने को ही ठगते हैं। आत्मा एक ही है अतः सत् और असत् वृत्तियों में परस्पर घात-प्रतिघात चलता रहता है। इसी आधार पर हमें शिक्षा दी जाती है कि दूसरों की सेवा करो और बिना किसी फल की इच्छा किये नित्य सत्कर्म में लगे रहो।

यदि हम मनुष्य की सम्पूर्ण चेतनता लेकर उसकी अखंडता पर विचार करें तो देखेंगे कि मानव चेतनता जिस परमोच्च विकास की योग्यता रखती है उस चरम विकास के लिए मानसिकता को नैतिकता या सदाचार से पृथक् रखना एकदम असंभव है। इसी प्रकार सदाचार को भी रहस्यात्मक तत्त्व से पृथक् रखना नितांत असंभव है। सदाचार के अभाव में बुद्धि पतित होकर निपुणतम कुतर्क का रूप धारण कर लेती है और इसी प्रकार सदाचार से रहित एक रहस्यवादी योगी, यदि ऐसा होना संभव हो तो, एक ऐसा घृणित व्यक्ति बन जाता है जो मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में एक कलंकस्वरूप होगा। फिर, सदाचार को विचारात्मक होने के लिए जैसे बुद्धि के साथ दृढ़तापूर्वक संलग्न होना पड़ता है, इसी प्रकार उसे (सदाचार को) चरम सीमा तक पहुँचने के लिए रहस्यात्मक ढंग से समाप्त भी होना चाहिए। मनुष्य के जीवन का यही लक्ष्य और ध्येय भी है। संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मनुष्य के मनोवैज्ञानिक चरम विकास के लिए विचारशक्ति, संकल्प और भावना अलग नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार उसके आध्यात्मिक चरम विकास के लिए तत्त्व-ज्ञान, सदाचार (नीति) और रहस्यवाद पृथक् नहीं किये जा सकते *। ज्ञान के समान सदाचार को भी जीवन के लिए उतना ही आवश्यक माना गया है।

कठोपनिषद् में लिखा है—"जिसे समझने को बुद्धि नहीं है, जो अनिग्रहचित्त और नित्य अपावन है, वह अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँचता, वरन् पुनर्जन्म के चक्र में फिरता रहता है।

---

*Contrckive Survey of upanishadic Philos phy.

"परन्तु, दूसरी ओर, जो ज्ञानवान्, निग्रहचित्त, नित्य शुद्ध और पावन है वह अपने लक्ष्य पर पहुँचता है जहाँ से फिर उसे जन्म नहीं लेना पड़ता। (कठ० ३, ७, ८)

उसी उपनिषद् में लिखा है, "जो पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, वह उसे (ब्रह्म को) मानसिक शक्ति से प्राप्त नहीं कर सकता।" (कठ० २ २४)

ज्ञान और आचरण की बुराइयों के संबंध में सुसंगत आदर्शात्मक धारणा यह है कि ज्ञान भले और बुरे दोनों से परे है—और वह (ज्ञान) ज्ञानी को आचरण-संबंधी भेद-भावना—कुकर्म और सुकर्म—के क्षेत्र से ऊपर उठाकर ऐसे स्थान पर पहुँचा देता है जहाँ उनका महत्त्व नहीं है।" ऐसे व्यक्ति को निश्चय ही इस प्रकार के विचार विकल नहीं करते कि "मैंने भला काम क्यों नहीं किया? मैंने बुरा काम क्यों किया?" जो यह जानता है, वह अपने को इन विचारों से बचा लेता है; क्योंकि, जैसा तैत्तिरीय उपनिषद् (२-६) में लिखा है—"वह जो इसको जानता है, दोनों (विचारों) से अपने को बचा लेता है।" बृहदारण्यक में भी लिखा है "उसको दोनों विचार वशीभूत नहीं करते—न तो यह कि 'इसलिए मैंने बुरा किया' और न यह कि 'इसलिए मैंने भला किया।' निश्चय ही वह दोनों पर विजय प्राप्त कर लेता है। क्या किया और क्या नहीं किया—दोनों का उसके ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता।" (बृहदा० ४-४-२२) मुंडकोपनिषद् में लिखा है:—

"जिस समय आत्मदर्शी सुवर्णवर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्तिस्थान उस जगत्कर्ता परम पुरुष को देखता है उस समय, वह ज्ञानी पुरुष, पाप-पुण्य दोनों को त्यागकर, निर्मल हो, उस (ब्रह्म) से परम एकरूपता प्राप्त करता है।' (मुंडक ३-१-३)।

इस मुक्ति का—असत्य से मुक्त होकर सत्य में प्रविष्ट होने का—कारण यह है कि ज्ञानी के लिए भले और बुरे का भेद अपूर्ण ज्ञान से उत्पन्न विचार हैं जो पूर्ण ज्ञान के सम्मुख ठहर नहीं सकते। इनका भेद तो केवल मौखिक है। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि "निश्चय ही यदि भाषा न होती तो भले और बुरे में सत्य और असत्य में, शुद्ध और अशुद्ध में सुखद और दुःखद में कोई भेद न होता। केवल भाषा के द्वारा ही ये सब ज्ञान होते हैं।" (छान्दोग्य ७-२-१)

सत्यलोक अथवा ब्रह्म लोक जहाँ सच्चा ज्ञानी पुरुष जाता है, इन सुखद और दुःखद की भेद-भावनाओं से मुक्त है जो इस संसार में तो सत्य जान पड़ती हैं परंतु इससे परे असत्य है। इसी प्रकार वह लोक भले और बुरे के नैतिक भेद से भी परे है। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है, "उस पुल पर से न दिन और न रात, न जरा और न मृत्यु, न दुःख (न सुख), न सुकृत पार जा सकते हैं। सब बुराइयाँ वहाँ से लौट आती हैं, क्योंकि वह ब्रह्म लोक सब बुराइयों से मुक्त है।' (छान्दोग्य ८. ४, १-२) बृहदारण्यक में भी लिखा है, "वह (ज्ञानी) उस लोक में जाता है जहाँ न सर्दी है न गर्मी और वहाँ वह नित्य निवास करता है।" (बृहदारण्यक ५-१०)

कठोपनिषद् के अनुसार कोई भी मनुष्य जो कुरीतियों से रहित नहीं है, परमात्मा को नहीं पा सकता। सभी उपनिषदों में यह आदेश विशेष रूप से दिया गया है। जब तक मनुष्य कुचालों में पड़ा रहता है और उनसे प्रेम करता है तब तक आत्मा ऐसे घने बादलों में छिपी रहती है जिनको पार कर वह उसके (आत्मा के) दर्शन नहीं पा सकता। किसी व्यक्ति के लिए यह कहना कि उसने कुचालों को छोड़ दिया है तभी संभव हो सकता है जब वह चाहे दुर्बल हो, अपराधी हो और

बारम्बार ठोकरें खाता और भूल करता हो, परंतु ठोकरों को वह ठोकर और भूल को वह भूल अवश्य समझता हो।

बौद्धमत में नैतिक महत्व

बौद्धमत में नैतिक महत्त्व के प्रमाण-स्वरूप स्ट्रास (Strauss) के 'बुद्ध और उनके सिद्धांत' नामक ग्रंथ से कुछ उदाहरण लीजिए—

"गौतम बुद्ध को जो भेंट दी जाती थी उसे वे पसंद नहीं करते थे, वरन् जो ग़रीबों को दी जाती थी उसे श्रेष्ठ मानते थे।" "जो मेरा सम्मान करना चाहता है उसे चाहिए कि रोगियों की सेवा करे।" "क्षणभंगुरता का ध्यान करने से लोभ पर विजय प्राप्त होती है; दुःख का ध्यान करने से घृणा का नाश होता है, अमृतात्मा के अनस्तित्व का ध्यान करने से अहंकार का लोप होता है।" "न्याय और सदाचार के सिद्धांतों का अनुसरण निर्वाण है।" "जब लोभ घृणा और भ्रम की आग तथा अन्य सब भावनाओं की लपटें बुझ जाती हैं, तब निर्वाण प्राप्त होता है।" "स्वास्थ्य सर्वोत्तम पदार्थ, संतोष सबसे बड़ा कोष और मानसिक शांति सबसे बढ़कर मित्र है।" "सत्य की भेंट सबसे बड़ी भेंट है।" "जो शांत है वह सुखी है, क्योंकि विजय से शत्रुता उत्पन्न होती है और पराजय से कष्ट होता है।" "जो अपने माता-पिता का आदर करते हैं वे सुखी हैं।" "जिस कुटुम्ब में लड़के माता और पिता का सम्मान करते हैं वह कुटुम्ब परमेश्वर का प्रिय होता है।" "परमेश्वर—यह माता-पिता का द्योतक है; क्योंकि माता और पिता संतान के लिए बहुत कुछ करते हैं—वे उसके पोषक, रक्षक और संसार में मार्ग दिखानेवाले हैं।" "इस मत्सरपूर्ण संसार में वह प्रसन्न है

जो मत्सर से दूर है।" "सच्चा आनंद केवल वहीं है जहाँ हृदय में अच्छे विचार रहते हैं।" यह एक सनातन सत्य है कि घृणा घृणा से कभी नहीं जीती जा सकती घृणा अघृणा से ही जीती जा सकती है।" क्रोधी मनुष्य को प्रेम से, बुरे मनुष्य को भलाई से, नीच को उदारता से और झूठे को सचाई से वश में करो।" "शुद्ध हृदय और प्रेम से परिपूर्ण होकर मैं दूसरों से वैसा ही व्यवहार करूँगा जैसा स्वयं अपने से।" "मैं अन्याय से प्राप्त हुए अधिकार को विषाक्त भोजन के समान घृणित समझता हूँ।" "सच्चा धर्म क्या है? जहाँ तक सम्भव हो दूसरों को दुःख न देना, जहाँ तक हो सके अधिक से अधिक सुख पहुँचाना, जितनी बार संभव हो सके उतनी बार भलाई करना और प्रेम, दया, सचाई और पवित्रता का व्यवहार करना।" "किसी कुल में जन्म लेने के कारण ही कोई आदरणीय नहीं होता और न जन्म के ही कारण किसी से घृणा करनी चाहिए। कर्म से ही मनुष्य आदरणीय होता है और कर्म से ही निन्दनीय हो सकता है।" "माता पिता का आदर करना, स्त्री और संतान की रक्षा करना, और शांतिपूर्ण व्यवसाय करना यही परम सुख है।" (बौद्ध धर्म के महान् अष्टांग मार्ग में पाँचवाँ मार्ग उचित जीविका है। इससे तथा ऊपर कहे हुए अंतिम वाक्य से स्पष्ट है कि बौद्धमत घर-बार छोड़कर संसार से अलग रहने का आदेश नहीं करता। बहुधा लोग समझते हैं कि बौद्धमत सन्यासी जीवन की शिक्षा देता है, परंतु यह शिक्षा केवल उन्हीं के लिए है जो समझते हैं कि मुक्ति-मार्ग पर चलने के लिए यह आवश्यक है।) जो केवल अपना ही सुख देखता है और दूसरों को, जो उसी के समान अपना सुख चाहते हैं, दुःख देता है, वह सच्ची शांति नहीं पा सकता।" "अ— —

छोटों के साथ उदारता, माननीयों के प्रति श्रद्धा और नम्रता, भलाई और दया के साथ साथ आत्म-संयम—ये और इसी प्रकार के दूसरे गुण ऐसे हैं जिनका तुमको अनुसरण करना चाहिए। भ्रमात्मक संस्कारों और विधियों के चक्कर में न पड़ो।" "तुमको स्वयं परिश्रम करना चाहिए, गौतम बुद्ध तो केवल शिक्षक हैं (अर्थात् वे तुम्हारे लिए परिश्रम नहीं कर सकते।)" 'शारीरिक निग्रह अच्छा है, विचारों का दमन करना श्रेष्ठ है और अपने ऊपर अधिकार रखना अच्छा है।" "जो अपने ऊपर अधिकार रखता है या अपना स्वामी है वह अपने को सब दुःखों से मुक्त कर लेता है।" "वह मन जो भाग्य के विपरीत वायु से भय-कंपित नहीं होता, जो दुःख और भावनाओं से मुक्त है और सदैव शांत रहता है, वह पूर्ण आनंद प्राप्त करता है।" "मेरे कर्म मेरी सम्पत्ति हैं, मेरे कर्म ही मेरी पैतृक सम्पत्ति हैं। चाहे तुम वायु में उड़ जाओ, चाहे समुद्र की गहराई में समा जाओ, चाहे पर्वत की गुफा में छिप जाओ, तुम अपने कर्मों के फल से नहीं बच सकते।" "बहुत से लोग पानी में गोते लगाते हैं या उसे अपने ऊपर छिड़कते हैं। उनकी धारणा है कि इससे वे पवित्र हो जाते हैं। किन्तु वास्तविक शुद्धि अपने कर्म से होती है; जल से नहीं होती।" "जैसा मैं हूँ, वैसे ही दूसरे हैं, जैसे दूसरे हैं वैसा मैं हूँ—इस ज्ञान से युक्त मनुष्य दूसरों को आघात नहीं पहुँचाता वरन् उनका हित करता है।" "जिस तरह माता अपनी जान तक निछावर करके अपने एकलौते बेटे की रक्षा करती है उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि दूसरे सब प्राणियों के साथ अनंत प्रेम करे, क्योंकि सबसे प्रेम करना ही सच्चा धर्म है।" "सब जीवधारियों के साथ दया और कर्तव्यशीलता का व्यवहार करो।" "रुपए पैसे तथा

दूसरी वस्तुएँ आज हैं, कल नहीं रहेंगी। यदि वे दूसरे के काम आ सकती हैं तो यह एक उचित लाभ है।" "पूर्णतया निःस्वार्थ दान, जिससे इहलोक अथवा परलोक में लाभ की आशा न की जाय, सबसे बढ़कर दान है। ऐसे ही दान करनेवाले के विषय में कहा गया है कि वितरण करने से वह संचय करता है, बाँट देने से लाभ उठाता है और देने से पाता है।" (बौद्धों का विचार है कि दान के पानेवाले को इतना कृतज्ञ नहीं होना चाहिए जितना कि देनेवाले को; क्योंकि पानेवाले की कृपा से ही देनेवाले को एक भला काम करने का सुअवसर मिलता है।) "बुद्ध के अनुयायी अपराधी ठहराये जाने पर भयभीत न होंगे और प्रशंसा किये जाने पर डींग न हाँकेंगे।" "दूसरों के अवगुण देखना सरल है, परंतु अपने अवगुण कोई नहीं देखता। इसके विपरीत तुम अपने अवगुण स्वयं देखो और उनसे बचो।" "प्रसन्नता दो प्रकार की है—एक स्वार्थमय दूसरी स्वार्थरहित। स्वार्थ-रहित प्रसन्नता ही महत् प्रसन्नता है।" "निरन्तर ध्यान रखो कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए सभी समय उपयुक्त है और ज्ञान तथा सज्जनता का मणि-कांचन योग सर्वोत्तम आभूषण है।" "यदि कोई मनुष्य कोई बुरा काम करके उसे स्वीकार करता है और भविष्य में उससे बचने का प्रयत्न करता है तो बुरे कर्म का फल धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। (बुद्ध ने केवल इसी प्रकार के पश्चात्ताप को महत्त्व दिया है, झूठ और रोने-कलपने में उनका विश्वास न था।)" "दया और मितव्ययिता से मनुष्य सच्चे कोष का संचय करता है। ऐसे कोष का लोप नहीं होता, न उसे कोई चोर चुरा सकता है, न राजा छीन सकता है।" "यदि कोई मनुष्य युद्ध में करोड़ों मनुष्यों पर विजय पाता है तो वह विजयी वीर कहलाता है,

परंतु याद रखो कि जो अपने को जीत लेता है वह सबसे बड़ा विजयी है।" एक बार बुद्धदेव ने देखा कि कुछ लड़के मछलियों को तंग कर रहे थे। उन्होंने उनसे पूछा, 'क्या तुम पीड़ा से डरते हो?' जब लड़कों ने उत्तर दिया 'हाँ', तब उन्होंने उनको फटकारते हुए कहा, "जब तुम पीड़ा से डरते हो तो दूसरों को भी पीड़ा मत पहुँचाओ, चाहे वे छोटे जीव क्यों न हों।"

उपर्युक्त थोड़े से उद्धरणों से बौद्धमत में नैतिक महत्त्व का पता लग जायगा।

मादक द्रव्यों के निषेध से जीवन दीर्घ और स्वास्थ्य श्रेष्ठतर होता है और घरों में सुख की वृद्धि होती है तथा मनुष्य पापों से दूर रहता है। यदि संसार के दूसरे देशों की अपेक्षा बौद्धों में अपराध की इतनी कमी है तो इसका कारण यही है कि भगवान् बुद्ध ने अपने आदेशों से हमको मादक द्रव्यों से बचा लिया है। उन्होंने अपने अनुयायियों को आचरणसंबंधी जो नियम बतलाये हैं वे कितने सुंदर और पूर्ण हैं। हिंसा मत करो; अपने चारों ओर रहनेवाले निर्बल प्राणियों को किसी प्रकार दुःख न दो; किसी तरह की चोरी न करो; दूसरों को धोखा न दो; लोभ और वासना के प्रत्येक दुष्कर्म से दूर रहो जिससे जीवन पवित्र हो; झूठ मत बोलो जिससे एक भाई दूसरे का विश्वास कर सके; किसी प्रकार के मादक वस्तु का सेवन न करो जिससे मन और शरीर का अधिकार नष्ट न हो—यही बुद्ध का सिद्धांत है। बुराई करने-वाला इस लोक और परलोक दोनों में कष्ट भोगता है—दोनों ही अवस्थाओं में वह दुखी रहता है, मैंने बुरा काम किया है, यही विचार उसे विकल करता रहता है और इससे भी अधिक दुःख उसे निरय (नरक) लोकों में जाने पर होता है।

भलाई करनेवाला इस लोक और परलोक दोनों में सुखी रहता है। मैंने अच्छा काम किया है, यह विचार उसको प्रसन्न रखता है और इससे भी अधिक सुख उसे स्वर्ग लोक में जाने पर मिलता है।*

नीति-सिद्धांत

जैन मत में नीति-सिद्धांत

नीति-सिद्धांत जैन धर्म का सर्वोत्कृष्ट अंश और साक्षात् सरलता का रूप है। उसमें मनुष्य के अपने प्रति और समाज के प्रति कर्तव्यों में कोई विरोध नहीं है। समाज का जो सर्वोत्तम हित है वही व्यक्ति के लिए भी है। आत्मा में जितनी क्षमता विद्यमान हो उसके अनुसार उसे विकसित होना चाहिए और उसका एक साधन उदाहरण, शिक्षा, प्रोत्साहन और सहायता द्वारा दूसरों को उनके विकास में सहायता देना है। जैनियों में बड़ा कठोर संयम है, उसकी कठोरता आचरण-संबंधी नियमों से ही प्रकट हो जायगी। एक साधारण जैनी के जीवन की प्रथम अवस्था जैनमत में बुद्धि-संगत और विचारपूर्ण भाव से श्रद्धा रखना है और दूसरी अवस्था तब आती है जब वह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी जीव की हत्या नहीं करेगा, झूठ से दूर रहेगा, दूसरे की सम्पत्ति का बिना उसकी अनुमति के भोग नहीं करेगा, पवित्रता से रहेगा, अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखेगा, प्रतिदिन उपासना करेगा और ज्ञान, औषध, सुख और भोजन के रूप में दान करेगा। इन सभी गुणों को केवल एक शब्द 'अहिंसा' के अंतर्गत माना गया है। 'किसी को

---

*. धम्मपाद पृ० ८

दुःख न दो'—यह केवल एक निषेधात्मक आदेश नहीं है, वरन् इसमें सेवा का भाव भी सम्मिलित है, क्योंकि यदि हम दूसरों की सेवा करते हैं परंतु अपने पड़ोसी या भाई की सेवा नहीं करते तो निश्चय ही हम उनको दुखी करते हैं। यद्यपि यह कोई अपराध नहीं है जिसके लिए हम दोषी ठहराये जा सकते हैं तथापि यह हमारी एक अनैतिक भूल ठहराई जा सकती है।*

× × ×

बहुधा यह कहा जाता है कि हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म और दर्शन में पापियों के लिए पाप से मुक्त होने की कोई आशा नहीं दिखाई देती, उनके पापों की क्षमा है ही नहीं, इसलिए जीवन से परे भी उनका भविष्य दुःख और अंधकार से पूर्ण है। हिन्दू दर्शन-शास्त्रों का गंभीर और निकट अनुशीलन करने से पता लगता है कि यद्यपि उपर्युक्त धर्मों की शिक्षा में पापियों के प्रति करुणा अथवा क्षमा के लिए स्थान नहीं है, तथापि वे पापियों के हृदयों में एक महत् आशा और विश्वास पैदा कर देती हैं कि वे (पापी) अपनी पतितावस्था से ऊपर उठ सकेंगे और कालान्तर में पूर्ण सदाचारी जीवन बितावेंगे।

मनुष्य के पाप के चाहे कोई और कितने भी कारण क्यों न हों, दुःख और तप के द्वारा उनका अंत हो जायगा। एक बार दुःख भोग लेने पर—इस लोक और परलोक में दुःख और कष्ट झेलकर अपने कर्मों का ऋण चुका लेने पर—मनुष्य हिमजल की भाँति निर्मल हो जाता है। वह पाप

---

*. जे० एल० जैनी की आउट लाइन आव जैनिज्म (Outline of Jainism) से।

करता है इसीलिए उसे दुःख भोगना पड़ता है, परंतु समस्त कुप्रवृत्तियों और पापमय वासनाओं से छुटकारा पाना उसके ही हाथों में है।

मनुष्य चाहे कितना ही नीच और पतित क्यों न हो, परंतु ज्यों ही उसकी उच्च प्रकृति—आनंदमय आत्मा—जागी और उसने बाह्य प्रकृति से संबंध छोड़कर उसके (आत्मा के) साथ एकत्व का अनुभव किया त्यों ही उसका जीवन सुधरने लगता है (और इस सुधार का उसको अनुभव भी होने लगता है) और उसके सभी बुरे कर्म ज्ञान की अग्नि में भस्म हो जाते हैं। गीता में भी लिखा है—

"यदि तुम सब पापियों से भी बढ़कर पापी हो तो भी तुम ज्ञान की नाव से पाप-सागर के पार हो जाओगे।'

(गीता ४-३६)

उपसंहार

बाह्य जगत् का एक निश्चित अर्थ और ध्येय है। इसकी अनेक उपयोगिताएँ हैं जिनमें कुछ निम्नलिखित हैं—

(१) बिना बाह्य जगत् के संपर्क के कोई मानसिक उन्नति संभव नहीं है।

(२) संसार दिव्य विचारों का परिणाम है। दिव्य क्रिया ज्ञानशून्य और निरर्थक नहीं हो सकती।

(३) संसार का नैतिक मूल्य है।

(४) बाह्य उत्तेजकों (प्रेरकों) के संपर्क में आये बिना कोई विकास या उन्नति नहीं हो सकती। अतः सांसारिक जीवन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(५) हम नैतिकता के बिना अपनी आध्यात्मिकता नहीं बढ़ा सकते, आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए यह अनिवार्य

है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने संसार छोड़ने की आज्ञा नहीं दी। यदि संसार के सब मनुष्य काम करना त्याग दें तो देवी अभिव्यक्ति का उद्देश्य ही विफल हो जाय।

विश्व, जो दैवी संकल्प को अभिव्यक्ति माना गया है और जिसके अन्दर वह व्याप्त है, न्यायानुसार अयोग्य और महत्त्वहीन कहकर तुच्छ नहीं माना जा सकता। हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में इसे जो कर्मभूमि अर्थात् कर्म का स्थान कहा गया है वह उचित ही है। संसार में बिना जीवित रहे और बिना परिश्रम किये हम अपनी प्रच्छन्न (सुप्त) शक्तियों को विकसित या समुन्नत नहीं बना सकते। अतः यह संसार अपने समस्त सुख और दुःख, हानि और लाभ, सफलता और असफलता और निरन्तर परिवर्तनशीलता से युक्त होते हुए भी सबसे श्रेष्ठ लोक है, क्योंकि इसके ही भीतर हमारी सब नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ पैदा होती और फलती-फूलती हैं। शरीर से रहित होने पर मनुष्य जाति की कोई उन्नति नहीं हो सकती। यह सबसे श्रेष्ठ लोकों में से एक लोक है। भारतीय विचारधारा के अनुसार यह स्पष्ट और निश्चित रूप से माना गया है कि इस संसार के अतिरिक्त, जिसमें हम रहते हैं, और भी अनेक संसार हैं। हम उन संसारों की उपेक्षा नहीं कर सकते और न यही कह सकते हैं कि हमारा संसार ही एकमात्र संसार है।

हम पहले देख चुके हैं कि चाहे हम भौतिक जगत् में उन्नति करना चाहें अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में, इन दोनों दशाओं में धर्म, सदाचारिता और नैतिकता नितान्त आवश्यक है। इस धर्म का अर्थ है स्वधर्म अर्थात् अपना कर्तव्य, क्योंकि "पर धर्म (दूसरों का कर्तव्य और धर्म) भयावह" है। इसीलिए हमको शिक्षा दी जाती है कि अपनी आन्तरिक नैतिक बुद्धि का अनु-

स्मरण करो। ईश्वर की सर्वव्यापकता और मनुष्य की दैवी उत्पत्ति को देखते हुए हम निःसंशय मान सकते हैं कि संसार का हृदय अर्थात् संसार भीतर से अच्छा है और इसमें जो बुराई दिखाई देती है वह केवल सापेक्ष है और यह बहुत देर तक नहीं ठहरती। और जब कभी न्याय और अन्याय, भलाई और बुराई में युद्ध होता है तो अधिकांश स्थितियों में अन्त में सदा सत्य की ही विजय होती है। इस सिद्धान्त से भारतीय विचार-धारा के प्रायः सभी मत सहमत हैं। अब, आशावाद की एक परिभाषा जो लाइबनीज़ ने दी है कि 'संसार में सत्य की असत्य पर नित्य विजय होती है' उसका इस भारतीय मत से पूर्ण अनुमोदन होता है, इसलिए जब हम कहते हैं कि भारतीय विचार-धारा वास्तव में आशावादी है तब हम कोई भूल नहीं करते।

भारतीय ऋषिगण जब मनुष्यों को मार्ग दिखलाने के लिए कुछ धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तों का निर्धारण कर रहे थे तब उनके पिछले कर्मों और भावी हितों का अवश्य ध्यान रखते थे, क्योंकि भूत उनके वर्तमान से ऐसा घुला-मिला रहता है कि अलग नहीं किया जा सकता और उनकी भावी दशा साधारण रीति से वर्तमान विचार और वृत्तियों का परिणाम होती है। उन ऋषियों का विश्वास है कि मनुष्य को केवल इस लोक में ही काम नहीं करना है वरन् दूसरे लोक भी हैं, उन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है। उसके (मनुष्य के) पूरे शरीर की वृद्धि आवश्यक थी। गीता में लिखा है, "यह कहा जाता है कि इन्द्रियाँ बड़ी हैं, इन्द्रियों से मन बड़ा है, मन से बुद्धि और बुद्धि से जो बड़ा है वह है आत्मा।" (गीता ३-४२)

मनुष्य को पूर्ण मनुष्यत्व के विकास के लिए प्रयत्न करना है अर्थात् उसे अपनी इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि को

विकसित करना और अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रकृति को उत्पन्न करना है। विकास-क्रम (यह एक प्राकृतिक सत्य है जिसे प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने भी पूर्ण रूप से स्वीकार किया था) में किसी मनुष्य का जो स्थान होता है उसी के अनुसार उसके कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी निश्चित होते हैं। हिन्दू, बौद्ध और जैन मत के जो जीवनसम्बन्धी सिद्धान्त थे उनका पूर्ण क्रम मनुष्य की उन्नति क्रमशः विकास और फिर परम पूर्णता के आधार पर स्थित था। मनुष्य का ध्येय जन्म और मृत्यु, दुःख और कष्ट के चक्कर से छुटकारा पाना और अन्त में अपनी उत्पत्ति के आदि कारण से, जो सहज आनन्द-मय है, एकत्व प्राप्त करना था। डाक्टर सी. ए. एफ़. राइस डेविड्स ने 'बौद्धमत के अनुसार जीवन का महत्त्व' नामक एक लेख में लिखा था, "वह अर्थात् बौद्ध मार्ग पर चलनेवाला प्रत्याशी अन्न अर्थात् अन्तर्दृष्टि और विमुक्ति अर्थात् मोक्ष को जीत चुका और उसी के बल से 'व्यस्त जीवन के उस वैभव-पूर्ण समय' का भोग करता है जिसका प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक दृष्टि से मूल्यवान् होगा यदि केवल विकास की दीर्घ और पुनर्जन्मों में भटकती हुई अनन्त दीर्घ अवस्थाएँ उसको वहाँ पहुँचने दें। वह, बौद्धमत के अनुसार जीवन को उसकी उच्चतम संभावित शक्ति—उसके परम महत्त्व—तक पहुँचा देता है।

भारतीय विचार-धारा के अनुसार विकासवाद हमारे नैतिक तथा आध्यात्मिक कर्मों के निर्माण में भी समान शक्ति से कार्य करता है। ऋषि-मुनि, साधु-संत, पैग़म्बर और महात्मा—सब अत्यन्त विकसित और पूर्ण समुन्नत प्राणी हैं जो अमर हैं और नित्य (ईश्वर) में निवास करते हैं। उनका आध्यात्मिक विकास तब तक चलता रहता है जब तक वे

ईश्वर रूप[1] नहीं हो जाते । उपर्युक्त सिद्धान्त को समझ लेने के पश्चात् यह समझना सरल है कि एक व्यक्ति जो मनुष्य जाति का भूषण है और ईश्वर के साथ एकत्व प्राप्त कर चुका है, वह फिर समय की आवश्यकतानुसार दुखी प्राणियों की सहायता और पथ-प्रदर्शन के लिए दैवाधिकार के साथ पृथ्वी पर अवतार ले सकता है।[2] श्रीकृष्ण और गौतम बुद्ध दोनों ही महात्माओं ने स्पष्ट शब्दों में अपने पूर्व जीवन का वर्णन किया है।[3] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उन दोनों महात्माओं के विकास यथोचित समय पर ही हुए थे और अब उन्होंने अपने ध्येय को प्राप्त कर लिया है।

ऐसे आदर्शों के सामने होते हुए हमें उन लोगों के लिए निराश होने का कोई कारण नहीं है जो थोड़ी देर के लिए बुराइयों में फँस गये हैं और समस्त नैतिक विचारों की उपेक्षा करते हुए ऐन्द्रिय सुख के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सोचते।

पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि प्रत्येक दुष्कर्म और कुभोग का परिणाम दुःख तथा कष्ट होता है और यह दुःख ही है जो अन्त में हमें कुमार्गों से बचाता और बुद्धिमान् बनने की शिक्षा देता है। हमें विश्वास है कि कुकर्मी जिस क्षणिक ऐन्द्रिय सुख के पीछे पागल बने फिरा करते हैं उससे शीघ्र ही संतुष्ट हो जायँगे और अन्त में उस आनन्द की खोज में रत होंगे जिसका कभी विनाश नहीं होता, क्योंकि गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि "स्पर्शजन्य जो सुख है वह निश्चय ही दुःख

१—चौथे अध्याय का अन्तिम भाग देखिए।

२—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

३—बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

पैदा करनेवाला है। उसका आदि और अन्त है। ज्ञानी उसमें सुख नहीं मानते।

यदि हम मानव हृदय की खोज करें तो देखेंगे कि प्रायः प्रत्येक हृदय के भीतर तीन वस्तुओं के प्रति उत्कट अभिलाषा मिलेगी—(१) अमरत्व (२) ज्ञान और (३) आनंद। भारतीय विचारधारा के अंतर्गत मनुष्य की इन सहज अभिलाषाओं को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है और उनका कारण भी बतलाया गया है।

उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य की उच्चतर आत्मा की तीन विशेषताएँ हैं—वे हैं सत् चित् और आनंद। मनुष्य सत् है अर्थात् वह नित्य है और कोई उसका नाश नहीं कर सकता। अमरता उसकी सहज प्रकृति है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं, "प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में निवास करनेवाला यह (आत्मा) अवध्य है।" (गीता २।३०) "शस्त्र इसे काट नहीं सकते और आग इसे जला नहीं सकती। पानी इसे भिगो नहीं सकता, हवा इसे सुखा नहीं सकती।" (गीता २।२) "यह अज, नित्य और पुरातन है। शरीर के काट डाले जाने पर भी यह नहीं कटता।" (गीता २।२०)

इस प्रकार मनुष्य के अमरत्व का पूर्ण निश्चय करा दिया गया है।

यह चित् है अर्थात् यह (आत्मा) सब ज्ञान का उद्गम स्थान (कारण) है। इसीलिए किसी न किसी रूप में प्रत्येक मनुष्य ज्ञान की इच्छा करता है और जब तक आत्मज्ञान द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह संतुष्ट नहीं होता।

यह आनंद है अर्थात् इसकी (आत्मा की) प्रकृति ही आनंदमय है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति सब प्रकार के आनंद और सुख की निरंतर खोज करता रहता है। इसी

सुख को प्राप्त करने के लिए वह जान लड़ाकर परिश्रम करके धन-संचय करता है परंतु अंत में उसे पता चलता है कि वे सब सुख वास्तव में क्षणिक हैं, जब तक वह अपने उद्योग से उस सुख को प्राप्त नहीं कर लेता जो नित्य है तब तक उसे संतोष नहीं मिलता।

इस प्रकार हमें पूर्ण आशा, विश्वास और निश्चय हो जाता है कि यदि हम आवश्यक और अनावश्यक तथा नित्य और अनित्य में भेद जानने के लिए विवेक से काम लें तो क्रमशः हम छोटी-छोटी और महत्त्वहीन वस्तुओं को छोड़ देंगे और उसको पाने की खोज में लग जायँगे जो नित्य और शाश्वत है और इस प्रकार हम अमरत्व, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनंद को प्राप्त कर लेंगे। इसीलिए पूर्णता के मार्ग पर चलनेवाले एक सच्चे उत्साही के हृदय से निकली हुई प्रार्थना को उपनिषद्-कार ने इन उत्कृष्ट शब्दों में दिया है—

"हे प्रभु, मुझे असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।"

चाहे कैसा ही काम या विचार क्यों न हो, सफलता प्राप्त करने का मार्ग अपने ही उद्योग, शक्ति के सदुपयोग और एकाग्रता, सचाई और आत्म-विश्वास पर निर्भर है। बाहर की सहायता, चाहे लौकिक हो या अलौकिक, काम नहीं आती। मनुष्य के कर्मों या विचारों का फल कुछ नियत सिद्धांतों के अनुकूल होता है और उन्हीं के द्वारा हम सुरक्षित रहते और निश्चय सफलता प्राप्त करते हैं।

सांसारिक जीवन के त्याग अथवा उसके अनुसरण का धार्मिक अनुशासन प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं है। जब तक कोई अपने सांसारिक कर्तव्यों और दायित्वों का पालन नहीं कर लेता, वह चतुर्थ आश्रम (संन्यास) में प्रवेश नहीं कर सकता।

केवल वे ही लोग जिन्हें भीतर से सच्ची प्रेरणा होती है और जो सांसारिक भोगों से पूर्णतया संतुष्ट हैं, वास्तव में त्यागी बन सकते हैं, सांसारिक झंझटों से अपना नाता तोड़ सकते हैं, और एक उच्च जीवन की प्राप्ति के लिए आत्म तृप्ति की खोज कर सकते हैं।

इसी कारण और इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई कोई हिन्दू, बौद्ध और जैन, आत्मा की शुद्धि और अलौकिक शक्ति की प्राप्ति के लिए योग का अभ्यास करते हैं। उनकी धारणा है कि प्रत्येक मनुष्य, जिसकी धर्म-पालन में सच्ची रुचि है, संयत जीवन व्यतीत करे, यहाँ तक कि तत्त्व-ज्ञान के विद्यार्थी के लिए भी कम से कम आचरण का शुद्ध होना और केवल शरीर की रक्षा के लिए ही भोजन करना आवश्यक है। उनका विश्वास है कि घोर तप से दिव्य रहस्यों का स्पष्टतर ज्ञान होता है और प्रकृति की शक्तियों पर अधिकार प्राप्त होता है।

सब जीवों का चाहे वे स्वर्ग में हों या पृथ्वी पर, अन्त अवश्य होगा, इसलिए अनंत सुख की खोज न यहाँ करनी चाहिए और न वहाँ। आध्यात्मिक विचारवाले प्रायः सभी भारतीय मोक्ष की आकांक्षा रखते हैं अर्थात् वे चाहते हैं कि जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा मिले, दुःखों से पिण्ड छूटे और अंत में पूर्ण शांति और आनन्द की प्राप्ति हो।

जीवन का ऐसा उच्च आदर्श, उसकी पूर्णता चाहे कितनी ही दूर क्यों न हो, न्यायानुसार निराशावादी नहीं कहा जा सकता।